

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186616

UNIVERSAL
LIBRARY

• योजना •

HO 128 9143 H 2207
339A E. J.

गत २ इंडिया, सत्यना और प्रसार (क पत्रिका
प्रकाशित कर मन्त्रालय लड़कियों
और युवति आकाशवाणी प्रसारिका जनता की
आवाज़ सः जनता की
आवाज़ गूँ 19।

यह

शी है।

हमा
नागार्जुन
विद्यालंका

राघव,
सत्यदेव

आ
मूल्य रु०

वार्षिक

पब्लिकशन्स डिवाज़न,

पो० बॉ० २०११, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

आकाशवाणी प्रसारिका

[त्रैमासिक पत्रिका]

१० आषाढ़-८ आश्विन, १८७६ : जुलाई-सितम्बर, १९५७

इस पत्रिका में आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित
स्थायी महत्त्व की सामग्री यथोचित सम्पादन
के साथ प्रकाशित की जाती है



पब्लिकेशन्स डिवीज़न
सूचना और प्रसार मन्त्रालय
भारत सरकार

*Sarvodaya Sevitrya Mandir,
'Kothi (Bus Stand) Hyderabad-(A.P.)*



१० आषाढ़-८ आश्विन, १८७६ : जुलाई-सितम्बर, १९५७

‘साकेत’	नामवर सिंह	...	३
समाज, सभ्यता और गणित	डा० उदित नारायण सिंह	...	६
उन्से प्रीत करूँ पड़ताऊँ ! (कविता)	रवीन्द्र ‘अमर’	...	१०
नया रंगमंच : मगधन और शैलियों	जगदीशचन्द्र माथुर	...	११
बात की बात (गुजराती कहानी)	पन्नालाल पटेल	...	१६
विनिमय (कविता)	बालकृष्ण राव	...	१६
फ़ोसी देश इरान	इन्दुरेखर	...	२०
भास	डा० आर्येन्द्र शर्मा	...	२६
रूपान्तर (कविता)	शम्भूनाथ सिंह	...	३४
समर्पण (कहानी)	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	...	३२
उजुर्गी का बोझ	कन्हैयालाल कपूर	...	३५
‘अश्वेय’ और इलाचन्द्र जोशी	शुकदेवप्रसाद तिवारी	...	३६
यथार्थ और उपयोगिता	डा० बी० एस० नर्वेण	...	४७
किसी की अथयुद्धी पलकें (कविता)	चिरंजीत	...	४६
१८५७ : सामाजिक पृष्ठभूमि	डा० मथुरालाल शर्मा	...	५६
क्रान्ति की परिणति	अलगूराय शास्त्री	...	५४
क्रान्ति के गीत	देवेन्द्र सत्याधी	...	५८
नौकरी की तलाश में ग्रेजुएट	आर० के० श्रीवास्तव	...	६२
रवीन्द्रनाथ का बाल चित्रण	माया गुप्त	...	६५
प्राचीन भारतीय वाषयन्त्र	कृष्णदत्त वाजपेयी	...	६८
अपराधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	एल० एस० शुक्ल	...	७२
हिन्दी में शोधकार्य	डा० कन्हैयालाल सहल	...	७६
भेरे संबल (कविता)	अजित कुमार	...	८०
विप्ले साँप	हरिश्चन्द्र भरतिया	...	८१
मशीन उद्योग का विकास	लक्ष्मीकान्त भा	...	८५
पुस्तक समालोचना	डा० इन्द्रनाथ मदान	...	८७
	प्रभाकर माचवे		
	रामचन्द्र टण्डन		

11/19/94
IN 32 P



‘साकेत’

नामवर सिंह

आलोचकों का कहना है कि जो काव्य जिस युग में लिखा गया है, उसे उसी दृष्टि से देखना चाहिए—प्राचीन काव्य को प्राचीन दृष्टि से, नए काव्य को नई दृष्टि से। जो समर्थ हैं, उनके लिए यह सम्भव है। लेकिन मेरा तो यह कहना है कि प्राचीन समसामयिक होकर ही अपना होता है। सन्तोष की बात है कि जिस काव्य की हम बात करने जा रहे हैं, उसमें भी प्राचीन को इसी रूप में लिया गया है। कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त का ‘साकेत’ जिस किसी ने भी पढ़ा है, उसे मालूम है कि उसमें रामकथा को आधुनिक रूप देने की कोशिश की गई है और कवि ने अपने इस कोशिश के प्रति पाठकों को अच्छी तरह सतर्क कर दिया है। फलतः सामान्य पाठक के ध्यान में यह ‘आधुनिक दृष्टि’ पहले आती है, कथा का आधुनिक रूप बाद में आता है। और ध्यान से देखें तो ‘साकेत’ में रामकथा का आधुनिक रूप कम है, आधुनिक दृष्टि की चिनगारियाँ ही अधिक हैं। रामभक्त गुप्त जी ने स्वयं भी इसे स्वीकार किया है। इस दृष्टि से गांधी जी के साथ ‘साकेत’ को लेकर उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ है, वह देखने योग्य है।



‘साकेत’ के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

.....‘साकेत’ वस्तुतः दृढ़ते हुए संयुक्त परिवार के युग की संजोई गईं मीठी स्मृति है। जिस कवि ने काव्य-शैली में परम्परा को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया है, उसी ने ‘साकेत’ में भारतीय जीवन की दृढ़ती हुई परम्परा की पीढ़ी को भी विधेयात्मक रूप देना चाहा है।.....

अपनी दृष्टि की आधुनिकता की यह चेतना नहीं चीज़ है। इसे मैं ऐतिहासिक बोध कहूँगा। अपने युग की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक होने पर ही यह दृष्टि मिलती है। भारत में यह दृष्टि पहली बार उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में उत्पन्न होने वाली पुनरुत्थान-भावना से आई। यों तो वह आधुनिकता अब हमारे

लिए एक ऐतिहासिक वस्तु हो गई है, लेकिन उसके प्रति जागरूकता आज भी हमारी चेतना का अंग बनी हुई है। “कल्पभेद ही चरित सुहाए। भौति अनेक मुनीसन गाए ॥”.....तो तुलसीदास भी कह गए हैं और रामकथा को एक नया रूप उनके हाथों भी मिल चुका है। लेकिन उन्हें इतना ही ज्ञान था कि यह नया रूप ‘नया’ है; वह नया रूप युग की परिस्थितियों की माँग

है—इसका बोध उन्हें नहीं था। इतिहास और मानव स्वाधीनता के विकास के साथ-साथ अपनी आवश्यकता का यह बोध बढ़ता जा रहा है और बढ़ते में इस बोध के साथ ही मानव की स्वाधीनता भी बढ़ती जा रही है। गुप्त जी का ‘साकेत’ इस सत्य को पुष्टि करता है।

‘साकेत’ के विभिन्न सर्गों में गुप्त जी ने व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति,

तुलसीदास आदि आर्य कवियों को जिस प्रकार स्मरण किया है, उसमें भी उनके ऐतिहासिक बोध का आभास मिलता है। तुलसीदास तथा अन्य प्राचीन कवियों की तरह उन्होंने भूमिका में एकत्र ही इन कवियों की बंदना नहीं कर दी है, बल्कि भाव-भूमि के अनुरूप अलग-अलग सगों में उन्होंने एक-एक कवि का काव्यात्मक उपभोग किया है। इन स्पष्ट संकेतों के अज्ञाता भी 'साकेत' के काव्य-गठन में परम्परा का प्रगाढ़ निर्बाह दिखाई देता है। परम्परा का यह आयत्तीकरण कवि की विवशता नहीं, बल्कि सतर्क प्रयत्न है—जैसा कि अपने ढंग से टी० एस० ईलियट ने 'वेस्टवूड' में किया है। काव्य में परम्परा का यह बोध एक उदात्त भावना उत्पन्न करने के साथ ही बीच-बीच में प्रसंग-गर्भत्व की खोज का भी आनन्द देता है। यों तो कभी-कभी रूढ़ि की ये प्रंथियाँ रसभंग भी करती हैं, लेकिन इन्हें ईश की गँठों की तरह सहज भाव से भी लिया जा सकता है।

आलोचकों ने 'साकेत' में गार्हस्थ्य जीवन के माधुर्य की ओर प्रायः संकेत किया है और कुछ लोगों ने तो इसे मुख्यतः 'गार्हस्थ्य काव्य' ही माना है। 'साकेत' का आरम्भ लक्ष्मण और उर्मिला के दाम्पत्य जीवन के विनोद-प्रमोद से होता है और परिसमाप्ति भी इस दम्पति के परिपक्व प्रेम की प्रगाढ़ता से होती है। अन्यत्र पारिवारिक जीवन की अनेक मधुर आँकियाँ दिखाई पड़ती हैं। सीता और लक्ष्मण के सम्बन्धों में गुप्त जी ने आभी-देवर के प्रेम का अनूठा माधुर्य भर दिया है। और 'साकेत' का यह पारिवारिक जीवन भी संयुक्त परिवार का जीवन है, जो कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण भारत में अभी तक शेष है। इस दम्बन्ध में स्वयं गुप्त जी का यह उद्गार है—
'होता है कृत कृत्य सहज बहुजन गृही।'

गुप्त जी ने संयुक्त परिवार के पक्ष में वह उद्गार ऐसे युग में प्रकट किया है जब कि अधिकांश काव्यों में वैयक्तिक जीवन तथा प्रेम की पुकार सुनाई पड़ती है। 'साकेत' के समकालीन ज्ञानवादी काव्यों में पारिवारिक जीवन तथा दाम्पत्य जीवन का आभास तक नहीं मिलता। आलोचकों ने गुप्त जी के इस अपवाद की व्याख्या अभी तक नहीं की है। इसे कवि का निजी संस्कार कह कर ही छुट्टी नहीं पाई जा सकती। इसकी व्याख्या कवि के ऐतिहासिक बोध से ही सम्भव है। 'साकेत' वस्तुतः टूटते हुए संयुक्त परिवार के युग की सँजोई गई मीठी स्मृति है। जिस कवि ने काव्य-शैली में परम्परा को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया है, उसी ने 'साकेत' में भारतीय जीवन की एक टूटती हुई परम्परा की पीड़ा को भी विधेयात्मक रूप देना चाहा है।

चौदह वर्ष के बनवास से टूटती है तो केवल एक चीज़—और वह है 'साकेत' का सुखी परिवार। और चौदह वर्ष के बाद जब उसे फिर से जोड़ने की कोशिश की जाती है तो सबके मन पर एक हल्का-सा विषाद दिखाई पड़ता है। चौदह वर्ष के बाद मिलते समय लक्ष्मण और उर्मिला वही लक्ष्मण और उर्मिला नहीं हैं। यौवन का स्थान प्रौढ़ता ने ले लिया है; तरलता, प्रगाढ़ता में परिणत हो चुकी है; आँखों में रहने वाले अन्तस्तल में जा बसते हैं और आँखों से बहने वाले आँखों की ज्योति बन जाते हैं। इतिहास का यह आभात भरत और मांडवी को एक प्रकार की गहनतर गहराई में भेज देता है। धरती को फटती देख दम्पति उसके मूल में जाकर भी रस पाना चाहते हैं—

हाय, नाथ, धरती फट जाती

हम तुम कहीं समा जाते।

तो हम दोनों किसी मूल में

रह कर कितना रस पाते ॥

स्वयं परस्पर भी न देख कर
करते हम बस अंग स्पर्श ।
तो भी निज दाम्पत्य-भाव
का उसे मानती मैं आदर्श ॥

धरती के नीचे गहरे अंधकार में जाकर भी
दो पेड़ों की जड़ें मिलकर किस रस का अनुभव
करती होंगी, यह कल्पना नए कवि मुक्ति
बोध की एक कविता ‘आत्मा के मित्र मेरे’ में
भी भिन्न प्रसंग लेकर मूर्त हुई है। इस आलोचक
में देखने पर पुरानी सीधी-सादी पंक्तियाँ
समसामयिक अर्थ-वत्ता से चमक उठती हैं।

इसी प्रकार गुप्त जी के
आधुनिक ऐतिहासिक बोध
ने ‘साकेत’ के प्रबन्ध-शिष्ट
को भी प्रभावित किया है।
‘साकेत’ की आलोचना करते
हुए कुछ आलोचकों ने
शिकायत की है कि बाल्मीकि
और तुलसी की रामकथा का
व्यापक विस्तार ‘साकेत’

..... गुप्त जी ने संयुक्त परिवार के
पक्ष में यह उद्गार ऐसे युग में प्रकट किया
है जबकि अधिकांश काव्यों में वैयक्तिक
जीवन तथा प्रेम की पुकार सुनाई पड़ती है।
‘साकेत’ के समकालीन छायावादी काव्यों में
पारिवारिक जीवन तथा दाम्पत्य जीवन का
आभास तक नहीं मिलता। आलोचकों ने
गुप्त जी के इस अपवाद की व्याख्या अभी
तक नहीं की है।.....

अतीत के चित्र स्मृति के
प्रवाह में प्रायः उलट-
पुलट जाते हैं। खोए हुए
क्षम्य को फिर ज्यों का त्यों
नहीं पाया जा सकता है,
टूटी हुई परम्परा जैसी को
तैसी नहीं मिलती। काव्य-
शैली के पारखी इसी को
नाटकीयता कहते हैं।

नगर की सीमा के कारण संकीर्ण और
प्रभावहीन हो गया है। कवि का उद्देश्य न
समरूप पार्श्व पर आलोचना में इसी तरह पुरानी
जोड़ पीटी जाती है। गुप्त जी ने रामकथा को
जो पौराणिक क्रम से नहीं कहा है और कुछ
कथा-प्रसंगों को केवल सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत
किया है, वह क्या कवि की केवल स्वेच्छा है ?
‘साकेत’ की रामकथा में क्रम-विपर्यय है, सूत्र-
छिन्नता है, ‘प्रज्ञेश बैक’ है, वह केवल
शैली नहीं बल्कि आधुनिक मानसिक गठन की

‘साकेत’ का कथानक-गठन इस दृष्टि से
प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है।
संवाद-सौष्ठव और कथा-कलाप को देखते
हुए ‘साकेत’ एक बृहद् गीत-नाट्य प्रतीत
होता है। उसमें समसामयिक उपन्यासों और
नाटकों के कथा-विन्यास का पूर्ण उपयोग
किया गया है। इस प्रकार गुप्त जी ने
‘विविध वृत्त संचय’ में जो उत्साह दिखाया
है, आशा है, वह नए कवियों को भी उत्साह
प्रदान करेगा।

—दिल्ली से प्रसारित



समाज, सभ्यता और गणित

डा० उदित नारायण सिंह

रूसी साहित्य में एक काल्पनिक दार्शनिक है जिसका नाम है कुज्मा प्रुस्कोफ । प्रुस्कोफ ने एक बार प्रश्न किया कि सूर्य और चन्द्रमा में से मानव संसार के लिए कौन अधिक उपयोगी है । थोड़ा विचार करने के बाद प्रुस्कोफ स्वयं इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देता है : “स्पष्ट है कि चन्द्रमा सूर्य से अधिक उपयोगी है, क्योंकि चन्द्रमा हमें रात के अँधेरे में प्रकाश देता है और सूर्य तो केवल दिन में दिखाई देता है जब उजाला रहता है ।”

आज स्कूल का एक साधारण विद्यार्थी भी प्रुस्कोफ के इस जबाब को मूर्खतापूर्ण कह कर हँस देगा, क्योंकि वह भली भाँति जानता है कि चन्द्रमा का प्रकाश तो सूर्य के प्रकाश का प्रतिबिम्ब मात्र है और यदि सूर्य न हो तो पृथ्वी अन्धकारपूर्ण ही रहे । अब यदि यह प्रश्न पूछा जाए कि मानव सभ्यता को गणित तथा व्यावहारिक विज्ञानों, जैसे—भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, प्राणी विज्ञान आदि में से किसने अधिक प्रकाश दिया है तो अधिकांश लोगों के हाथ व्यावहारिक विज्ञानों के पक्ष में उठेंगे, और इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं होगा कि उनका उत्तर कुछ वैसा ही है जैसा दार्शनिक प्रुस्कोफ का सूर्य और चन्द्रमा के सापेक्ष महत्त्व के सम्बन्ध में है । विज्ञान का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिसका सम्यक् विकास गणित की सहायता के बिना सम्भव हो सके । इंजीनियरिंग को तो लोग गणित का ही एक व्यावहारिक अंग मानते हैं, किन्तु

इसके अतिरिक्त भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, प्राणी विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, भूगर्भ शास्त्र आदि सबको प्राणदायिनी प्रेरणा और शक्ति गणित से ही मिलती है । गणित के बिना इनका विकास स्रोत सूख जाएगा और इनकी गति अवरुद्ध हो जाएगी । विज्ञान के अंगों में गणित ही एक ऐसा है जो अपने पैरों पर खड़ा है, जो स्वयं समर्थ है, जो दूसरों से समस्याएँ लेता है किन्तु समाधान नहीं, जो स्वयं प्रकाशित है और अपनी ज्योति से दूसरों का मार्ग आलोकित करता है । शिक्षित वर्ग में भी सम्भवतः बहुत कम ऐसे होंगे, जिनको इस बात का पता है कि गणित ने धार्मिक विचारों में उलट-फेर किया है, अन्धविश्वास का विनाश किया है, दार्शनिक चिन्तन की दिशा बदली है, अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों को बल दिया है और इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानव संस्कृति और सभ्यता की गंगा का दुर्लभ्य पहाड़ों और दुर्गम घाटियों के बीच भगीरथ की भाँति मार्ग प्रदर्शन किया है । लेकिन मानव समाज के प्रति गणित के इतने अनन्त उपकार होते हुए भी आज जो साधारण शिक्षित वर्ग में इसके प्रति उपेक्षा और उदासीनता का भाव है, इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए । क्योंकि स्कूलों में गणित के विस्तृत पाठ्यक्रम, उसके लिए लिखी गई अनुपयुक्त पुस्तकों और गणित को पढ़ाने की प्रेरणाहीन परम्परा का यह अनिवार्य परिणाम है । अच्छी तरह पढ़े-लिखे लोगों में बहुत से

ऐसे हैं जो गणित सम्बन्धी अपने अज्ञान को सम्मान सूचक समझते हैं। यह तो मैं नहीं कहता कि देश के प्रत्येक व्यक्ति को गणितज्ञ हो जाना चाहिए, किन्तु यदि किसी जाति में गणित के महत्त्व के प्रति अज्ञान भरा हो, गणित को समझने और जानने की इच्छा का सर्वथा लोप हो तो उस जाति की चिन्तन शक्ति कुंठित हो जाएगी, उसका विकासक्रम रुक जाएगा और उसकी सभ्यता मर जाएगी। जीवित सभ्यता का अर्थ है प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाने का प्रयास निरन्तर जारी रखना, निसर्ग के नियमों को तथा उसके गुह्यतम रहस्यों को समझने का अविराम प्रयत्न करते रहना और परिणामस्वरूप नए विचारों, नई परम्पराओं तथा नई मान्यताओं का सृजन करते जाना। यदि कोई जाति लगातार दो-तीन पीढ़ियों तक किसी सृजनात्मक विचारधारा को जन्म नहीं देती; यदि नए विचारों के आलोचन से वह उद्दीप्त नहीं रहती है; यदि वह मानव समाज की समस्याओं तथा प्रकृति के नियमों को नए सिद्धान्तों, नई पद्धतियों और नई कलाओं द्वारा समझने का प्रयत्न न कर केवल अपने पूर्वजों की कमाई से अपनी मानसिक छुड़ा शान्त करती रहती है—तो यह समझना चाहिए कि उस जाति की सभ्यता मर गई है। अतुल्य बौद्धिक तृषा ही जीवित एवं जागरूक सभ्यता का लक्षण है। यदि हम मानव सभ्यता की विकास धारा का इस दृष्टिकोण से निरीक्षण करें, तो पता चलेगा कि इस धारा की दिशा ठीक करने में तथा इसको गति देने में गणित का बहुत बड़ा हाथ है।

ईसा मसीह के तीन-चार सौ वर्ष पूर्व यूनानी गणितज्ञों ने दीर्घ वृत्त अर्थात् इलिप्स, परिवलय अर्थात् पैराबोला और अति परिवलय अर्थात् हाइपरबोला के गुण-धर्मों का अध्ययन किया और इनकी विशेषताओं का पता लगाया। इस

प्रकार के अध्ययन का व्यावहारिक जीवन में समस्याओं से कोई समन्वय नहीं था। प्रायः दो हजार वर्ष बाद १७वीं शताब्दी में जब कैप्लर ने ग्रहों की कक्षा और उनकी गति-विधि के सम्बन्ध में अपने नियमों का प्रतिपादन किया तथा न्यूटन ने अपने गुरुत्वाकर्षण के नियम का आविष्कार किया, तब पता चला कि ग्रहों की कक्षा का रूप दीर्घवृत्त का है, जिसके नाभिस्थल पर सूर्य स्थित है। हमारा दूसरा उदाहरण और भी महत्त्वपूर्ण है। यह तो सर्व विदित है कि यूक्लीड ने अपनी भूमिति की रचना कुछ स्वयं तथ्यों के आधार पर की थी। यूक्लीड की भूमिति का भौतिक संसार से अनुपम सामंजस्य था और दो हजार से अधिक वर्षों तक यूक्लीड की भूमिति की सत्ता अडिग बनी रही। परन्तु १९वीं शताब्दी में चार गणितज्ञों ने स्वतन्त्र रूप से नई भूमितियों का सृजन किया, जिनमें यूक्लीड का समानान्तर रेखा वाला स्वयं तथ्य सही नहीं है और न तो उस भूमिति के सभी निष्कर्ष ही ठीक उतरते हैं। इन नई भूमितियों को उस समय केवल सैद्धान्तिक सम्मान मिला, किन्तु २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब एल्बर्ट आइन्स्टाइन ने सापेक्षतावाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो इस विश्व के ढाँचे को व्यक्त करने के लिए उनको उसी अयूक्लीडीय भूमिति का सहारा लेना पड़ा, क्योंकि यूक्लीड की भूमिति इस काम के लिए अच्छी थी। इन दोनों उदाहरणों का प्रमुख उद्देश्य यह दिखाना है कि गणित विज्ञान अपने सिद्धान्तों और तर्कों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से कुछ पैटर्न बनाता है, जिसका निसर्ग के पैटर्न के साथ आश्चर्यजनक साम्य होता है।

गणित का प्राण है विवेकमयी भावना—हर क्रिया को, हर घटना को तथा हर परिस्थिति को विवेकपूर्ण दृष्टि से देखना—और गणित की विधि है तर्क प्रणाली। इन दोनों के समन्वय से

गणित मानव बुद्धि को एक व्यापक दृष्टि प्रदान करती है। इसी विवेकपूर्ण भावना से प्रेरित होकर मानव मस्तिष्क नए-नए विचारों की सृष्टि करता है और निसर्ग के रहस्यों की छान-बीन करता है। मनुष्य के सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन पर इस भावना का निरर्थक प्रभाव पड़ता है। यह सच है कि सामाजिक आवश्यकताओं ने गणित को जन्म दिया। व्यापार और वाणिज्य, आर्थिक लेन-देन, पंचांग तथा कैलेंडर बनाना, पुल, बाँध, मन्दिर, प्रासाद आदि का निर्माण करना, लड़ाई के हथियार तैयार करना आदि सभी कार्यों में ऐसी समस्याएँ आती हैं, जिनका समाधान गणित की सहायता से होता है। पर इस प्रकार की गणित मुख्यतः निम्न कोटि की होती है। व्यावहारिक जीवन की समस्याओं तक ही गणित सीमित नहीं रही, बल्कि एक शक्तिपूर्ण सृजनात्मक क्रिया और अमूर्त चिन्तन की एक प्रणाली के रूप में उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की और गणित का यह स्वरूप निस्सन्देह मानव मस्तिष्क की सुन्दरतम देन है।

मानव समाज की तीन प्राचीनतम संस्कृतियाँ भारत, मिस्र और यूनान में विकसित हुईं। इनमें भी भारत और मिस्र की सभ्यताएँ अधिक पुरानी थीं। गंगा और सिन्धु के मैदानों में रहने वाले आर्यों ने यज्ञकुण्डों और वेदियों के बनाने के क्रम में भूमिति की आकृतियों का अध्ययन किया और अंकगणित तथा बीजगणित का विकास किया। शुक्ल में जिसका काज ईसा से पूर्व ८०० से ५०० वर्षों तक माना जाता है, तथा ब्राह्मणों में जिसका काल ईसा से प्रायः २००० वर्ष पूर्व माना जाता है, यज्ञ-वेदियों के निर्माण के ऐसे प्ररनों का वर्णन तथा हल है जो एक अज्ञात राशि के सरल समीकरण और वर्ग समीकरण के हल के तुल्य हैं। महावेदी और शानचिन्त्रवेदी के वर्णन शत-

पथ ब्राह्मण में हैं। वेदियों के निर्माण सम्बन्धी समस्याओं को बीजगणित द्वारा हल करने के क्रम में अमूर्त चिन्तन की एक प्रणाली विकसित हुई जिसका उपनिषदों के दर्शन पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। गणित की संख्या तथा दर्शन के सांख्य, इन दोनों शब्दों का मूल एक ही है और दोनों अमूर्त चिन्तन के प्रतीक हैं। उपनिषदों के दर्शन में गणित को कितना महत्व दिया जाता था, इसका संकेत ऋग्वेद उपनिषद की एक आख्यायिका में मिलता है। नारद, सनत्कुमार के पास ब्रह्म विद्या जानने की इच्छा से जाते हैं। सनत्कुमार ने उनसे कहा— “कृपया मुझे यह बताइए कि आप विज्ञान और कला में क्या-क्या जानते हैं, जिससे मुझे यह ज्ञात हो सके कि अभी आपको कितना जानना बाकी है।” नारद ने अपनी जानी हुई विद्याओं में नक्षत्र विद्या अर्थात् गणित ज्योतिष और राशि विद्या अर्थात् अंकगणित का नाम भी बताया। इस आख्यायिका का सार यही है कि उस युग में बिना गणित का अध्ययन किए कोई ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं हो सकता था। वेदांग ज्योतिष में, जिसका काल ईसा से १२०० वर्ष पूर्व माना जाता है, गणित को विज्ञान और कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह गणित की अमूर्त चिन्तन प्रणाली का ही प्रभाव है कि भारतीय संस्कृति धर्मान्धता के विकास से दूषित नहीं हुई और यहाँ का धर्म सिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुआ।

मिस्र की सभ्यता में गणित का अध्ययन केवल व्यावहारिक दृष्टि से हुआ। व्यावहारिक उद्देश्य से ऊपर उठकर अमूर्त चिन्तन प्रणाली का मिस्रियों ने विकास नहीं किया, परिणाम स्वरूप उनकी सभ्यता किसी गम्भीर दर्शन की सृष्टि नहीं कर सकी। यूनान में गणित का प्रवेश दो दिशाओं से हुआ। भारत की गणित अरब और बेबीलोन होती हुई यूनान पहुँची

और मित्र से भी भूमिति के बिखरे हुए तथ्य वहाँ आए। पर यूनानियों ने अपने को केवल व्यावहारिक क्षेत्र में सीमित नहीं रखा। उन्होंने अमूर्त चिन्तन का सहारा लिया और अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाया। यूनानी दार्शनिकों ने गणित को और गणित में भी भूमिति को बहुत महत्त्व दिया। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो (अफलातून) कहा करता था कि भूमिति आत्मा को सत्य की ओर खींचती है और दार्शनिक भावना का सृजन करती है। यूनानियों का दर्शन गणित से अनुप्राणित है। भूमिति के अमूर्तकरण ने उनके दर्शन को आदर्शवादी दृष्टिकोण दिया—जिसका प्रभाव उनके समाज गठन, उनकी शिल्पकला, उनके संगीत पर पड़ा। यूनानी संस्कृति इसी आदर्शवादिता से स्पन्दिता है। भूमिति की आकृतियों और परिणामों से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी ललित कलाओं में रूप, आकार और सौन्दर्य को प्राधान्य दिया।

यूनान के आध्यात्मिक तथा आदर्शवादी वातावरण में भी वहाँ की सभ्यता ने एक ऐसे गणितज्ञ को उत्पन्न किया, जिसके अन्वेषण आध्यात्मिक भावनाओं से सर्वथा मुक्त थे और जो संसार के तीन महानतम गणितज्ञों में से एक है। उसका नाम है आर्कमिदीज़। आर्कमिदीज़ अपने सिद्धान्तों का सत्यापन प्रयोगों द्वारा करता था। गणित के सिद्धान्तों के आधार पर मशीनों के निर्माण करने का पहला श्रेय आर्कमिदीज़ को है। उसने हाइड्रोस्टैटिक्स को जन्म दिया, सापेक्ष घनत्व की धारणा का स्पष्ट निरूपण किया। मानव समाज के पार्थिव सुख-साधन के निमित्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों के उपयोग का सूत्रपात आर्कमिदीज़ ने किया। उसने स्वचालित पेच, दाढ़ दर्पण, घिरनी आदि का आविष्कार किया, लिबर के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और मशीनों में उसका उपयोग किया। जब रोमनों ने सिराकूज़ पर आक्रमण

किया तो उसकी शक्तिशाली सेना के विरुद्ध भी आर्कमिदीज़ की वैज्ञानिक सुरक्षा विधियों की सहायता से उसके देशवासियों ने लगातार तीन वर्षों तक अपनी रक्षा की। एक दिन जब आर्कमिदीज़ बालू के ऊपर आकृति बना कर भूमिति की किसी समस्या को हल करने में निमग्न था तब एक बर्बर रोमन सैनिक ने तलवार से उसे मार डाला। आर्कमिदीज़ की मृत्यु मानव सभ्यता के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यहाँ सभ्यता ने एक करवट बदली है। अमूर्त चिन्तन करने वाले, सैद्धान्तिक तथा आदर्शवादी यूनानियों के हाथ से नेतृत्व व्यावहारिक एवं संकुचित विचार वाले रोमनों के हाथ में चला गया। रोमनों की जाति एक शक्तिशाली जाति थी, किन्तु उनमें यूनानियों की भाँति स्वप्नदृष्टा नहीं थे। उनके दर्शन और विज्ञान में सृजनात्मक प्रेरणा का अभाव था। उनकी सभ्यता प्रभावहीन थी, उनकी संस्कृति वन्ध्या थी। उन्होंने गणित और विज्ञान की प्रगति में बाधा डाली। अमूर्त चिन्तन और स्वप्न दर्शन के अभाव में रोमन सभ्यता झोत-हीन सरिता की भाँति सूख गई। उनकी कला प्राणहीन प्रतिमा थी, उनका विज्ञान प्रेरणाहीन असृजनात्मक अनुकरण था। आर्कमिदीज़ के साथ-साथ ही उन्होंने विज्ञान की प्रतिभा को भी शताब्दियों के लिए धरती के नीचे दफना दिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में तथा १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गणितीय और वैज्ञानिक प्रतिभा के अंकुर ने शताब्दियों के खँडहर के नीचे से फिर सिर उठाया जब कोपनिकस, कैप्लर, न्यूटन, लाइबनिस्, दकार्त आदि की गणित ने मानव सभ्यता को नई दिशा की ओर प्रेरित किया। कैप्लर तथा कोपनिकस के अनुभवों के आधार पर आविष्कृत न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त ने एक विचार क्रान्ति उपस्थित कर दी जिसका दर्शन, विज्ञान, धर्म, समाज व्यवस्था

आदि पर व्यापक प्रभाव पड़ा। न्यूटन ने एक नवीन यंत्रशास्त्र को जन्म दिया, प्रकृति के व्यापारों को गणित सूत्रों और समीकरणों में बाँध कर संसार के सामने रख दिया। गणित की इस प्रगति ने मानव सभ्यता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया। इसके पूर्व अन्धविश्वास तथा धर्मान्धता ने अपने विश्वास पर अटल रहने वाले ज्योर्जेनो बूनो को खम्भे से बाँधकर जला दिया था तथा स्त्री गणितज्ञ हिपातिया के अंग-प्रत्यंग नोच कर सिकन्दरिया की सबकों पर बिखेर दिये थे।

न्यूटन के बाद मशीन युग का प्रारम्भ होता है, जिसके फलस्वरूप मानव संसार को—टेलीफोन, टेलीग्राफ, हवाई जहाज, रेडियो

आदि सुख के साधन मिले। मानव ने देश और काल पर विजय पाई।

लोगों की धारणा है कि सन् १९४२ ई० से परमाणु युग का प्रादुर्भाव हुआ, जब हिरोशिमा के ऊपर प्रथम परमाणु बम का विस्फोट हुआ। मुझे इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि गणितज्ञ के संसार में बिना किसी प्रकार की हिंसा किए ही परमाणु बम का विस्फोट सन् १९१२ ई० में ही हुआ था, जब आइन्स्टाइन ने अनेक समीकरण की कल्पना की थी। परमाणु के भीतर छिपे अतुल ऊर्जा भण्डार की ओर सबसे पहले गणित के इस सरल सूत्र ने ही संकेत किया था।

—जयपुर से प्रसारित

उनसे प्रीत करूँ पछताऊँ !

रवीन्द्र 'अमर'

उनसे प्रीत करूँ पछताऊँ !

सोन-महल लोहे का पहरा,
चाराँ और समुन्दर गहरा,
पंथ हेरते धीरज हारूँ—
उन तक कैसे जाऊँ ?
उनसे प्रीत करूँ पछताऊँ !

इन्द्र धनुष सपने सतरंगी,
छलिया पाहुन छिन के संगी,
नेह लगे की पीर पुतरियन—
जागूँ चैन न पाऊँ !
उनसे प्रीत करूँ पछताऊँ !



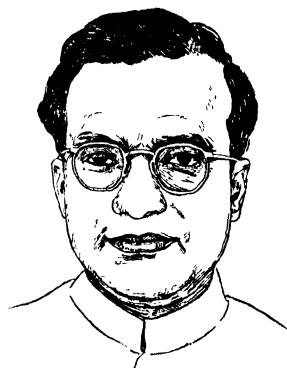
दिपे चनरमा नभ-दर्पण में,
छाया उतरे पारद-मन में,
पास न मानूँ, दूर न जानूँ—
कैसे अंक जुड़ाऊँ ?
उनसे प्रीत करूँ पछताऊँ !

—शलाहाबाद से प्रसारित

नया रंगमंच : संगठन

और शैलियाँ

जगदीशचन्द्र माथुर



कई विचारकों ने मुझ से यह शंका प्रकट की है कि रंगमंच के क्षेत्र में संगठन का प्रयास कहीं संस्कृति पर शासन अथवा पूर्वाग्रहों से ग्रसित संस्थाओं और व्यक्तियों का बरबस आरोप न बन जाए। रंगमंच और नाट्य कला का विकास ऐसे तो नहीं किया जा सकता है, जैसे दामोदर घाटी या अधिक अन्न उपजाओ योजनाओं का आयोजन। रंगमंच का प्रत्येक अंग किसी न किसी प्रकार की कलात्मक प्रवृत्ति पर निर्भर होता है। कलात्मक प्रवृत्ति स्वच्छन्दता और नैसर्गिक प्रतिभा की माँग करती है। संगठन प्रकृतिजन्य प्रतिभा के अभाव की पूति नहीं कर सकता, प्रतिभा की स्वाभाविक और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में रुकावट भले ही डाल दे। और फिर रंगमंच का विकास सामाजिक परिस्थितियों के घात-प्रतिघात और प्रतिक्रियाओं के फल-स्वरूप गतिशील हो सकेगा, न कि कागजी मसौदों या विशेषतः स्थापित संस्थाओं द्वारा। लोक जीवन, समय आने पर, आप ही आप लोकंजन की सामग्री उपस्थित कर लेता है—संगठन की आवश्यकता क्या है ?

संगठन की उपादेयता में ऐसी शंकाएँ किसी दकियानूसी प्रवृत्ति की परिचायक नहीं हैं, यद्यपि इन दलीलों को ज्यों का त्यों मानें तब तो आर्थिक उन्नति और सामाजिक झुझार सम्बन्धी योजनाओं की उपयोगिता में

भी संदेह किया जा सकता है। फिर भी योजनानुगामी संगठन कहीं व्यक्ति प्रसूत प्रेरणा और उत्साह को कुंठित न कर दे, ऐसी आशंका निमूर्त्त नहीं। अन्यत्र मैंने स्वयं आशंका प्रकट की है, कि कहीं राजनीतिक एकता की नकल में संगठन के नाम पर हम लोग एक, केवल एक, भारतीय रंगमंच को देश पर लादने की चेष्टा न कर बैठें। व्यक्तिगत प्रेरणा की स्वच्छन्दता और उससे भी अधिक सांस्कृतिक रूपों की विविधता कायम रखने की खातिर हमको एकांगी राष्ट्रीय रंगमंच का स्वप्न छोड़ देना चाहिए।

संगठन के अभाव के ही कारण भारतेन्दु युग की नाट्यधारा अन्तर्ध्यान हो गई। यदि उस समय काशी और अन्य बड़े नगरों में नाटक मंडलियाँ स्थायी रूप में स्थापित हो गई होतीं, तो हिन्दी रंगमंच और नाटक की परम्परा इस समय जीवित पुष्पित और फलित रही होती। उन्हीं के समकालीन वंगीय समाज में रंगमंच अभिजातवर्ग की छत्रछाया में संगठित रूप को प्राप्त हुआ। भारतेन्दु युग के बाद सन् १९३० के आसपास तक पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों से प्रभावित रंगमंच का जो रूप देश पर छाया रहा है, उसके गठन में साहित्य और उच्च कला का कोई हाथ नहीं रहा और इसलिए वह भारतीय नाटक और रंगमंच की परम्परा

को जारी रखने में असमर्थ रहा। मेरे विचार में सन् १९३० के आसपास एकांकी नाटकों का उदय हिन्दी रंगमंच की परम्परा के पुनरुत्थान में एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक पथचिह्न है। उष्कोटि की साहित्यिक प्रेरणाओं से अनुप्राणित होते हुए भी एकांकी नाटक एक रंगमंच विशेष की माँग के जवाब में लिखे गए। इसलिए एकांकियों का विकास हिन्दी रंगमंच की खंडित शृंखलाओं के पुनर्निर्माण का प्रेरक हुआ। एमेचर अथवा अव्यावसायिक रंगमंच की यह जो नूतन परम्परा स्थापित हो रही है उसके संवर्धन के लिए ही नहीं, बल्कि उसकी लोकप्रियता और सफलता में सज्जित रंगमंच की अन्य शैलियों के बीज को भी उत्तेजना देने के लिए संगठन की आवश्यकता है। सिनेमा और रेडियो दोनों ही ने अव्यावसायिक एकांकी रंगमंच को नए लेखक दिए, नया रूप विन्यास दिया, नए साधन दिए, किन्तु जहाँ हिन्दी रंगमंच रेडियो और सिनेमा का ऋणी है, वहाँ उसे कुछ पहलुओं में इन दोनों शक्तियों के घातक संक्रमण से सचेत भी रहना है। नए लेखक बढ़ती हुई संख्या में रेडियो नाटक और रेडियो रूपक तैयार कर रहे हैं, किन्तु इस तरह रंगमंचीय नाटक की प्रमुख विशेषताओं से लेखक, अभिनेता और रंगसंचालक सभी अनजाने ही विमुख-से होते चले जा रहे हैं। नेपथ्य संगीत का इतनी बहुलता से उपयोग होने लगा है कि संवाद दर्शकों को सुनाई ही नहीं पड़ता, अभिनेता भाव भंगिमा की बारीकियों का प्रयोग ही नहीं कर पाते; लेखकवृन्द रेडियो की काल और स्थान सम्बन्धी स्वच्छन्दता के इतने आदी हो चले हैं कि रंगमंच की संकुचित सीमाओं में प्रभावोत्पादक रूप विधान उनके लिए असाध्य होता चला जा रहा है। इसी तरह सिनेमा के सम्मोहन में आकर कई रंगनिर्देशक चमत्कारपूर्ण

दृश्य और प्रकाश एवं छाया के कौतुक प्रस्तुत करने में इतना समय और शक्ति लगा देते हैं कि नाटक के प्रधान अंगों, संवाद और गतिमय अभिनय की उपेक्षा हो जाती है। परिणाम यह हुआ है कि एकांकी रंगमंच की जो आशा-जनक और स्वस्थ परम्परा सन् १९३० के बाद से प्रारम्भ हुई उसके पथभ्रष्ट होने की सम्भावना हो चली है। इस परम्परा को स्थायी और परिपक्व रूप देने के लिए ही संगठन और योजनानुगामी विकास की आवश्यकता है।

रंगमंच की दूसरी शैली, व्यावसायिक नागरिक रंगमंच—हिन्दी में जिसका एकमात्र प्रतिनिधित्व इस समय पृथ्वीराज कर रहे हैं—इसी प्रकार संगठन की प्रतीक्षा में है। लेकिन उसकी कठिनाइयाँ दूसरी हैं। भारतवर्ष के किसी भी बड़े नगर में एक भी रंगशाला यानी थियेटर हाल व्यावसायिक हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन के लिए उपलब्ध नहीं। घूमकर प्रदर्शन करने वाले दलों को घाटा सहना पड़ता है, लेकिन कोई म्युनिसिपैलिटी या राज्य सरकार उस घाटे का भार सहने को तैयार नहीं। सबसे चिन्तनीय विषय यह है कि इस रंगमंच का अभी तक हिन्दी के लेखक समाज से सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाया है; दोनों एक-दूसरे की माँग और परिस्थितियों को नहीं समझ पा रहे हैं।

तीसरी शैली, यानी लोक रंगमंच भूगर्भ-स्थित बहुमूल्य रत्नों की उस खान की भाँति है जिसके खनन का अभी तक हम कोई प्रबन्ध नहीं कर पाए हैं, लेकिन जिसके छिट-पुट काँच खण्डों की चमक में ही हमें उसकी भावी दीप्ति का आभास मिलता है। लोक जीवन के निकटतम होते हुए भी इस शैली के पूर्ण विकास के लिए संगठन की सबसे अधिक आवश्यकता है। नौटंकियाँ, रासलीलाएँ और विदेसिया इत्यादि—लोक रंगमंच के ये रूप

विकृत और जर्जीभूत हो चले हैं। लोकप्रिय तो वे बहुत हैं, उनका वस्तु-विन्यास और नाटकीय अवयव हमारे नाटककार के लिए चुनौती भी है और नई दिशा के लिए संकेत भी। किन्तु लोकजीवन की आधुनिक समस्याओं से वे कुछ पीछे जा पड़े हैं। पिष्टपेषित कथानक जो अब निर्जीव हैं, विद्रूप और शृङ्गार जो अब मर्मस्पर्शी नहीं रह गए हैं, भद्दे वेशभूषा और प्रसाधन जो शहरी जीवन की भोंडी नकल मात्र हैं, इन सबके परिमार्जन और नवोन्मेष के लिए संगठन की आवश्यकता है।

इन तीनों शैलियों—एमेचर यानी शौकीनी रंगमंच, व्यावसायिक रंगमंच और लोक रंगमंच—के संगठन में सरकार का क्या और कितना हाथ रहे? सरकारी सहायता और निर्देशन से बिस्कुल कन्नी काटना, अपने गुलामी के दिनों की मानसिक प्रतिक्रिया का शिकार होने के तुल्य होगा। लोग ब्रिटेन का उदाहरण देते हैं। लेकिन ब्रिटेन में ब्रिटिश क्रामा लोग, जो नाट्य-कला और उसके विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिए एक केन्द्र का भी संचालन करती हैं, अपनी सरकार से बराबर अनुदान पाती रही हैं। बेल्जियम यूरोप के सबसे छोटे राष्ट्रों में से है। वहाँ की सरकार ने सन् १९२१ में तीन लाख चालीस हजार डालर यानी लगभग १५ लाख रुपये रंगमंच के प्रोत्साहन के लिए दिए और खर्च और संगठन का भार तीन केन्द्रीय संस्थाओं को सौंपा। स्वीडन, डेन्मार्क, फ्रांस, जर्मनी इन सभी देशों में वहाँ की सरकार द्वारा सहायता प्राप्त रंगशालाएँ या घूम-फिरकर प्रदर्शन करने वाली मंडलियाँ फल-फूल रही हैं। जर्मनी में तो इन रंगशालाओं को नगरपालिकाओं से प्रचुर सहायता मिलती है। कम्युनिस्ट देशों का तो कहना ही क्या? पोलैंड में सन् १९४६ के बाद से सभी रंगशालाएँ सरकारी संस्थाएँ बना

दी गई हैं और उनका प्रबन्ध संस्कृति और कला विभाग के अन्तर्गत एक संस्था (जनरल डाइरेक्टरेट ऑफ थियेटर, ऑपेरा, ऑर्केस्ट्राज़) के द्वारा होता है। जो भी घाटा होता है वह सरकार पूरा करती है और इस तरह क्रिनेन्शियर यानी सेठ-साहूकार का आसरा वहाँ के रंगमंच को नहीं ताकना पड़ता। फिर पोलैंड के रंगमंच पर आज प्राचीन परम्परा के नाटकों का अभिनय ज़ोरों के साथ होता है, यह नहीं कि सरकारी प्रचार सम्बन्धी नाटकों का अभिनय होता हो।

तो रंगमंच के संगठन के लिए भारत की केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को एक निश्चित रकम प्रतिवर्ष देनी चाहिए और उसके व्यय का भार भारतीय नृत्य नाट्य संगीत कला परिषद् और तदनु रूप, प्रादेशिक परिषदों को सौंपना चाहिए। ये परिषदें मुख्यतः निम्न कामों में सरकारी निधि का उपयोग करें तो अच्छा हो—

(क) एमेचर संस्थाओं को नवीन और प्राचीन नाटकों के प्रदर्शन की सुविधा देने के लिए।

इस तरह जगह-जगह पर प्रयोगात्मक रंगमंच चल पड़ेंगे, जिनमें नवोदित लेखकों के नाटक अथवा प्रायः असाधारण समझे जाने वाले नाटकों का अभिनय उनके व्यावसायिक रंगमंच पर पहुँचने के पूर्व किया जा सकेगा।

(ख) रंगमंच कला और नाट्य लेखन कला के सक्रिय अध्ययन की सुविधा देने के लिए।

अमेरिका के हार्वर्ड विरवविद्यालय में सन् १९०७ में प्रोफेसर बेकर ने रंगमंच और नाट्य-लेखन कला का पहला शिष्य केन्द्र खोला तो कुछ विद्वानों ने नाक-भौं सिकोड़ी और कुछ रंगमंच विधायकों ने

मखौन उड़ाया। लेकिन जब यूजिन ओ नील जैसे नाटककार ऐसे ही शिक्षण केन्द्रों से निकले और अमेरिकन रंगमंच और सिनेमा की बढ़ती हुई माँग को इन केन्द्रों ने पूरा किया तो लोगों का रुख बदला। मेरे विचार में प्रयोग के रूप में किसी भारतीय विश्वविद्यालय में नाट्य और रंगमंच कला के शिक्षण विभाग की स्थापना तो की ही जाए, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है कि उपयुक्त स्थानों और साधन सम्पन्न वातावरण में तीन-तीन या छः-छः महीने के लिए लेखकों, निर्देशकों, टेक्नीशियनों इत्यादि के अध्ययन समारोह 'सेमिनार' का आयोजन हो। दूसरे, कुछ छात्रवृत्तियाँ अथवा 'फेलोशिप' नाटककारों को इसलिए दी जाएँ कि वे निश्चित अवधि के लिए किसी उत्कृष्ट नाटक मंडली—यथा, पृथ्वी थियेटर्स अथवा शीशोर भादुड़ी के रंगमंच—के साथ रहकर रंगमंच की परिस्थितियों, कठिनाइयों और विशेषताओं का सांगोपांग अध्ययन कर सकें और तदनुसार नाट्य रचना भी करें।

(ग) नाट्य प्रतियोगिताएँ और रंगमंच उत्सवों के आयोजन के लिए।

प्राचीन भारतीय राजाओं के ऋतु उत्सवों और यूनानी नाटक प्रतियोगिताओं से लेकर आधुनिक एडिनबरा फेस्टिवल, फ्रांस के एविग्रान फेस्टिवल और आस्ट्रिया के साइजबर्ग फेस्टिवल तक शासन द्वारा प्रेरित रंगमंच उत्सवों की परम्परा मानव इतिहास में ज़ोरों की रही है। अब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऐसे ही उत्सव भारत-वर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में होने चाहिये।

(घ) घूम-फिरकर नाटक प्रदर्शित करने वाली मंडलियों को सुविधाएँ देने के लिए।

कुछ उच्च कोटि की व्यावसायिक नाटक मंडलियों द्वारा देश के विभिन्न नगरों में प्रदर्शन होने से न सिर्फ कला के मेरुदंड ऊँचे हाँगे, बल्कि प्रादेशिक रंगमंचीय आन्दोलन एक-दूसरे की विशेषताओं को भी समझ सकेंगे। फ्रांस में ऐसी मंडलियों को प्रतिवर्ष सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलती है। भारतवर्ष में प्रारम्भ में सरकारी निधि से ऐसी मंडलियों को या तो मोटर ट्रक और कैरेवॉ कार इत्यादि खरीदने के लिए रुपया दिया जा सकता है, या रेल-सफर में रियायत की जा सकता है।

व्यावसायिक रंगमंच की सबसे प्रमुख आवश्यकता है नगर-नगर में थियेटर भवनों का होना। किन्तु न तो सरकार से न म्युनिसिपैल्टियों के पास से इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए रुपया मिलेगा। इसलिए मेरा सुझाव है कि सरकार एक ऐसा कानून तैयार कराए जिसके अनुसार जिस नगर में थियेटर हाल बनवाने का विचार हो, उसके सिनेमा दर्शकों पर एक नया एन्टर्टेनमेंट टैक्स (मनोरंजन कर) एक निश्चित अवधि के लिए लगाया जाए। जब थियेटर भवन के निर्माण के लिए पर्याप्त निधि जमा हो जाए तो वह नवीन टैक्स बन्द कर दिया जाए। टैक्स थोड़ी ही मात्रा में हो जिससे भार अधिक न जान पड़े। इस तरह पाँच-छः वर्षों में कई नगरों में सुन्दर रंगशालाएँ बन सकेंगी और जनता या सरकार पर विशेष आर्थिक भार नहीं पड़ेगा। मुझे आशा है कि इस सरल और परमोपयोगी सुझाव पर प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकारें गम्भीरता से विचार करेंगी। इस तरह निर्मित की गई रंगशालाओं की देखभाल प्रादेशिक परिषद और उससे सन्नद्ध संस्थाओं द्वारा होनी चाहिये। रंगशालाओं को किसी प्रकार के राजनीतिक प्रचार या संघर्ष की गुथियों से दूर रखने की गारंटी होना अनिवार्य है।

नया रंगमंच : संगठन और शैलियाँ

रंगमंच के संगठन में सरकार और केन्द्रीय एवं प्रादेशिक संस्थाएँ मुख्यतः सुविधाजनक परिस्थितियाँ पैदा कर सकती हैं और अलग-अलग योजनाओं एवं प्रवृत्तियों को निश्चित सूत्र में बाँधने का प्रयास कर सकती हैं। किन्तु संगठन का सशक्त बीजारोपण तो स्थानीय और छोटी-छोटी संस्थाएँ ही करेंगी। यही वह बुनियादी काम 'फ्रीड वर्क' है, जिसके बल पर विभिन्न शैलियों के रंगमंच की हमारा खबी की जा सकती है। पारचात्य देशों में रंगमंच के संगठन में 'थियेटर ग्रुप्स' अथवा नाट्य गोष्ठियों ने प्रशंसनीय कार्य किया है। ऐसी गोष्ठी के सदस्य कुछ नाटककार, अभिनेता, रंगसंचालक, नेपथ्य निर्देशक यानी रंगमंच के सभी अवयवों के प्रतिनिधि होने चाहिएँ। गोष्ठियों में नये या पुराने नाटकों का पठन और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विवेचन किया जाए। बड़े नगरों में 'दर्शक समाज' नाम से ऐसी संस्थाएँ खोली जाएँ, जिनके सदस्यों की संख्या ५०० के लगभग हो—चन्दा ५) १० मासिक। महीने में एक बार उसके सदस्य कम से कम

एक नाटक का अभिनय देख सकें। २,००० रुपये में व्यावसायिक मण्डली से भी एक-दो प्रदर्शन का प्रबन्ध करा लेना मुश्किल न होगा। 'दर्शक समाजों' का आयोजन है कठिन, किन्तु यदि नाटकों के अतिरिक्त नृत्य और संगीत समारोह का भी प्रबन्ध ये संस्थाएँ करें तो सदस्यों की संख्या बढ़ सकती है। महाराष्ट्र में इस तरह के 'संगीत समाज' बहुत सफल हुए हैं।

आन्दोलन, आयोजन और संगठन—इन तीन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप नये रंगमंच का भारतवर्ष में उद्भूत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। अभी तक तो आन्दोलन भी तीव्र नहीं हो पाया है। लेकिन इसके यह मानी नहीं कि संगठन की कार्रवाई शुरू करने का अवसर ही नहीं आया है। देश का सांस्कृतिक वातावरण रंगमंच के लिए प्रस्तुत है। स्वतन्त्रता के कुछ ही वर्षों में समग्र भारतीय समाज में सांस्कृतिक चेतना की लहर-सी आ गई है। रंगमंच इस चेतना की सशक्त वाणी बनेगा। संस्कृति के सभी अनुरागी व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि इस युगान्तरकारी समारोह में हाथ बैठावें।

—पटना से प्रसारित



बात की बात

पन्नालाल पटेल

वसंत ने दो-तीन बार टेढ़ी नज़र से पत्नी की ओर देखा। आखिर साहस बटोर कर बोला—“चलो सिनेमा देखने चलें, सुरू।”

दूर बैठी सुरबाला ने किताब में मुँह रखते हुए कहा—“मेरी हज़्ज़ा नहीं है, आप हो आइए।”

चय भर की शांति के बाद वसंत ने पुनः पूछा—“सुरू छः मास बीत गए, फिर भी तुम्हारा रोष कम नहीं हुआ।”

सुरबाला ने हँसने का मिथ्या प्रयत्न किया और वसंत की ओर देखकर बोली—“इसमें, रोष किस बात का? और यदि आपका आग्रह है, तो मैं चलूँगी।” वसंत को अपना आँठ चबाते देख उसने पूछा—“किस शो में जाएँगे?”

सुरबाला की ओर एक इष्टि निशेप कर, वसंत बड़बड़ाया—“इसका कुछ मतलब नहीं है, सुरू।”

“जैसी आपकी हज़्ज़ा”—सुरबाला पुनः पढ़ने में व्यस्त हो गई। इतने में हूब वाज़ा आया और सुरबाला बाहर गई।

वसंत, छः मास पूर्व के उस बदनसीब दिन को याद कर, अपनी शंकाशील प्रकृति की कोसला हुआ बैठा रहा। एक ख़ानदानी कुटुम्ब में उसने जन्म लिया था। बड़े भोग-विलास में वह पला था। परिवार में अमन-चैन था। सुरबाला का दूरिद्र परिवार, वसंत के बंगले के पीछे के आउट हाउस में किराए पर रहता था। बचपन में साथ खेले हुए वसंत और सुरबाला

बड़े हुए। उन दोनों की मित्रता से वसंत के माता-पिता को कुछ आशंका हुई। सुरबाला के पिता से मकान खाली करने को कहा गया। वह भी सचेत हो गए, किन्तु कुछ विलम्ब से।

मकान खाली कराने के पीछे रहे हुए कारण को भौंप कर, वसंत ने सुरबाला को सांत्वना दी और वचन दिया—“मैं तुम्हारे यहाँ आता-जाता रहूँगा, और एक वर्ष बाद हम विवाह कर लेंगे।”

और ठीक उस वचन के अनुसार, दूसरे वर्ष बी० ए० की उपाधि प्राप्त कर, वसंत ने अपनी प्रभुर पैतृक सम्पत्ति का मोह छोड़ कर सुरबाला के साथ विवाह किया। साठ रुपयों की नौकरी भी उसने पा ली।

वसंत के इस बलिदान का मूल्य सुरबाला ही नहीं, उसके माता-पिता भी समझते थे। इसी कारण उन्होंने सुरबाला की ख़ाग के समय अधिक से अधिक गहने तथा कपड़े-ख़ाते दिए थे।

इधर सुरबाला भी उसे सदैव अपने प्रेम में तर रखती—खाने-पीने में, धूमने-बामने में, तथा हर प्रकार से उसे आराम में रखने के यत्न में वह सदा व्यस्त रहती थी।

सिनेमा के शौकीन वसंत को, वह एक न एक सिनेमा देखने के लिए प्रोत्साहित किया करती—“आपको यह किसम न देखना हो तो न सही, मुझे तो देखना ही है।”

वसंत हँसकर प्रत्युत्तर देता—“जो चलो, मैं तुम्हें थियेटर तक पहुँचा आऊँ। समय पर बिवा ले जाऊँगा।”

सुरबाला मीठे उपात्तम्भ से पूछती—“जुँ यह आपको शोभा देता है ?” और वसंत को सिनेमा देखने जाना ही पड़ता।

इतनी साधारण तनख्वाह में सुरबाला जिस तरह घर का संचालन करती थी उसे देख कर वसंत को बड़ा आश्चर्य होता था। एक-दो बार तो उसने सुरबाला से पूछा भी था—“इतना खर्च करती हो लेकिन इसमें से हारी-बीमारी के समय के लिए कुछ बचत की गुंजाइश रखती हो न ?”

सुरबाला इसका ऐसा प्रत्युत्तर देती कि वसंत चुप रह जाता। वह ऐसी गृहिणी पाकर निश्चित बन गया—“हमें तो, जैसा तुम बता रही हो, काम से काम है, शेष तुम जानो और तुम्हारी बात !”

उनके ऐसे सुखमय जीवन के पाँच वर्ष बीत गए। ऐसे सुखी दाम्पत्य जीवन पर जैसे विधि को भी हँसियाँ हुईं। कालेज जीवन का पाँच वर्ष पूर्व का सहपाठी साहित्यरसिक मित्र न यकायक मिलता, न वह मोपासों की उस कहानी का सारांश बताता।

गाड़ी के लूटने में कुछ समय बाकी था। वसंत ने ही बात प्रारम्भ की—“तुम्हारी अंतिम कहानी सचमुच बढ़ी सुन्दर थी। यदि तुम ऐसी ही कहानियाँ लिखते रहे तो……”

वह मित्र बीच में ही बोल उठा—“काश ! तुमने चेखव और मोपासों को पढ़ा होता और उसमें भी उस अंतिम कहानी को पढ़कर मैं तो जैसे मुग्ध हो गया हूँ।” और वसंत के मुख पर कौतूहल के चिह्न देख, उसने शीघ्र ही कहानी कहना प्रारम्भ किया—“उसका सार यह था—अध्यापक की नौकरी करने वाला साधारण तनख्वाह पाने वाला एक मनुष्य अपने घर की

सफाई, सुन्दरता और व्यवस्था को देखकर, अपनी किरायात करने वाली पत्नी की प्रशंसा अपने मित्रों के समक्ष यदा-कदा करता रहता—“इतने में उसकी पत्नी का अवसान हो गया और अध्यापक जो को अनुभव हुआ कि बहुत कुछ किरायात करने पर भी इतनी छोटी तनख्वाह में अपना गुज़ारा भी करना मुश्किल है। पहले वह अपनी पत्नी के साथ बार-बार सिनेमा देखने जाता था। अपनी पत्नी की गहने सम्बन्धी इच्छा को परितृप्त करने के लिए नकली मोती के गहने खरीदता था और अब तो वह सब स्वप्नवत् बन गया। अपनी ऐसी सुशील और दक्ष पत्नी को याद कर, उसकी दक्षता की प्रशंसा में बहुधा वह अपने मित्रों के समक्ष अश्रुपात भी कर लेता।

ऐसी ही हालत में वह अपनी इस छोटी-सी तनख्वाह वाली नौकरी को भी खो देता है। अपने पेट को पालने के लिए वह सामान-असबाब बेचने लगता है। आखिर तीन दिन के उपवास के बाद वह उस नकली मोती वाले गहनों का डिब्बा जौहरी के यहाँ बड़े संकोच से ले जाता है—जो भी चार आने मिलें उससे, इस आशा में।

किन्तु मालूम हुआ कि यह सब माल चार लाख रुपयों की कीमत का है और है भी उसी दुकान से खरीदा हुआ। आश्चर्यचकित उस अध्यापक को वह जौहरी आश्वासन देता है कि वह उसके सही दाम बता रहा है और उसके समर्थन में वह अपनी उस पुरानी बिक्री की बही को दिखाता है—यह फ़लाने ड्यूक हैं; फ़लानो मिसैज़ को दिलाया हुआ यह फ़लाना गहना है।

वसंत का दिमाग चक्कर खाने लगा। वह बढ़ी मुश्किल से घर तक पहुँच पाया। उसने यह पक्का मान लिया कि उस मित्र ने जो बात बताई थी वह उसे सावधान करने के लिए ही

थी। और वह यदि केवल कहानी हो तो भी उसके मन में सन्देह हुआ कि उसकी पत्नी भी उस कहानी वाले अध्यापक की पत्नी जैसी होनी चाहिए। नहीं तो इतनी सी तनखाह में वह घर का संचालन ऐसे सुचारु रूप से कैसे कर पाती ?

सुरबाळा ने एक जोड़ी नकली बुन्दे तथा चार आने की सफेद मोतियों की माला कुछ दिन पहले ही खरीदी थी और उसे वसंत को दिखाया भी था। यह सब स्मरण करते हुए उसे सन्देह हुआ, कदाचित वे गहने असली भी हो सकते हैं और अपने मित्रों में से दो-तीन को तो उसने उस व्यूक के स्थान पर रख भी लिया।

रसोई घर में कुछ साफ़-सूफ़ करती हुई पत्नी को अपने सामने हँसते हुए वह देख न सका। उसको अब वह डायन-सी लगी। बैठक के कमरे की ओर जाते हुए उसने रोष को बढ़े प्रयत्न से दबाकर सुरबाळा से कहा, “ज़रा ध्बर आओ तो !”

सुरबाळा ने वसंत को ऐसे मिजाज में कभी नहीं देखा था। अनेक शंका-आशंकाओं को दबाती हुई वह बैठक के कमरे में गई। उसने सरलता से पूछा—“क्यों आज आप कुछ नाराज़ हैं क्या ?”

वसंत ने सुरबाळा की ओर से मुँह फेर लिया और कोट उतारते हुए कहा—“इसी कारण तुमको मैंने बुलाया है।”

सुरबाळा ने साहस बढ़ोर कर वसंत के निकट की कुर्सी की ओर कदम बढ़ाते हुए कहा—“ध्बर कैदो, नहीं यह सच है क्या ?”

“देखो, यह सब हँसी-मज़ाक में उड़ाने के लिए मैं तुमसे नहीं कह रहा हूँ” और प्रत्येक शब्द पर ज़ोर देते हुए उसने कहा—“आज मुझे पार्श्व-पार्श्व का हिसाब चाहिए। मैं जानना चाहता हूँ तुम यह सब किस प्रकार निभाती हो ?”

सुरबाळा गम्भीर हो गई। वह रसोई घर में जाकर दो-चार घण्टे में हिसाब की डायरी ले आई और उसे वसंत के पास डाल कर बड़ी रूचता से वापस चली गई।

दो-चार मिनट तक डायरी के पृष्ठों को टटोलने के बाद वसंत ज़ोर से चिल्लाया—“कहाँ हो ?”

सुरबाळा का चेहरा लाल हो गया। इढ़ता से कदमों को बढ़ाती वह दरवाज़े के पास आकर खड़ी हो गई और उसने पूछा—“क्या है ?”

“यह तो चालू वर्ष का हिसाब है। मुझे अपना पूरा हिसाब चाहिए—जब से घर चलाना प्रारम्भ किया, उस दिन से आज तक का।”

“मैंने उसका संग्रह थोड़े ही किया है ?” वसंत को जैसे आग लग गयी—“इसके क्या माने ?”

सुरबाळा ने कमरे के भीतर प्रवेश करते हुए कहा—“कृपया आप यह बताएँगे कि आपको किस प्रकार का हिसाब चाहिए ?”

“घर के खर्च का।”

“ऐसा ! तो आप साफ़-साफ़ क्यों नहीं बताते ? मैं यह सब कहीं से, किसी के बद्दले में ले आती हूँ, यही न ?” सुरबाळा तिरस्कार भरी दृष्टि से वसंत की ओर देखती रही।

जैसे इस दृष्टि से जलता हुआ वसंत ज़ोर से चिल्ला उठा—“अपना सयानापन रहने दो। मुझे साफ़-साफ़ हिसाब बता दो।” और वसंत के इन अन्तिम शब्दों से, उसके कहने के ढंग से, सुरबाळा के भोले हृदय पर ऐसी चोट लगी जो इस जन्म में क्या जन्म-जन्मांतर में भी नहीं मिट सकेगी।

संयोग से सुरबाळाले बेचे हुए अपने गहनों के बिल पर कपड़े आदि की खरीद का हिसाब भी जोड़ रखा था। उसने कागज़ों के उन दो टुकड़ों को दरवाज़े के बाहर से ही वसंत की

और फँका। सुरबाळा भीतर के कमरे में जब गई थी उसी क्षण से वसंत के हृदय में कुछ परचा-ताप प्रारम्भ हो गया था। और इन कागज़ों के देखने के बाद तो संशय का कारण रहा ही न था। तथापि न जाने क्यों उसने पूछ लिया—“वे, वे नकली गहने क्या सचमुच नकली हैं?”

तीसरे क्षण उसकी गोद में माळा आ गिरी। तूफान-सी सुरबाळा सामने आकर खड़ी हो गई। रोष और तिरस्कार से वह बोख उठी—“नौसिलिया कसाई भी काम तमाम हो जाने

के बाद सेंटमेंट के प्रहार नहीं किया करता।” बाहर जाते हुए वह कहती गई—“शोग्र ही जाकर बाज़ार में परख करवा लीजिए, नहीं तो हाथ के हाथ ही कहीं असली न हो जाएँ।” सुरबाळा के आखिरी शब्दों में उसकी आवाज बदल गई थी जैसे टूटे हुए बर्तन की आवाज़ हो।

इस घटना को आज-क़: मास हो गए... तथापि वसंत को अनुभव हो रहा था कि उस दिन से पड़ा हुआ अन्तर तो उठना ही है, फिर चाहे सुरबाळा सिनेमा देखने चले या न चले।

—दिल्ली से प्रसारित



विनिमय

बालकृष्ण राव

रोक न पाया,
पूछ न पाया वायु वेग से
आज सवेरे
किसके भेजे हुए सँदेसे
मुझे दिये थे.....जान न पाया।
किस आशय से,
किस आशा से,
किस प्रयास के लिए,
प्रेरणा दी थी किसने ?

निशा-दिवस
यमुना-गंगा में
किस प्रदेश से आकर सङ्गा,

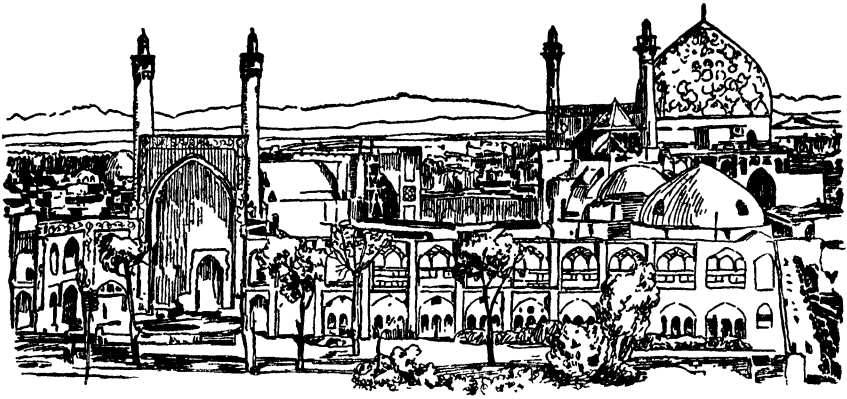
भाव भूमि के किस भुकाव से आकर्षित हो,
मिली तीसरी

यह प्रलङ्घ्य धारा कविता की ?
कौन बताता ?

निर्निमेष मैं देख रहा था
स्वप्न हंस सानंद तैरते,
आँख खोलते हुए नगर की
श्वास तरंगों पर.....

क्या जाने
किस निद्रा के मानसरोवर से
वे उड़ आये थे !

—रत्नावाह से प्रसारित



ईरान का सुरम्य नगर इस्कहान

पड़ोसी देश ईरान

इन्दुशेखर

आपदाओं का परित्याग बहुधा लाभदायक सिद्ध होता है। संसार के महापुरुष समय-समय पर जो उपदेश दे गए हैं, उनका जनता पर उतना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि पिछले दो महायुद्धों का। युद्ध के ध्वंसकारी स्वरूप को देखकर विरव की महान शक्तियों ने प्रथम बार यह अनुभव और तथ्य स्वीकार किया कि जैसे भी हो सके भविष्य में युद्धों को रोका जाए। और क्योंकि सभी विरोध भावनाएँ—आन्ति, सन्देह और परस्पर अनादर की भावना सं प्रेरित होती हैं, इसलिए हमें अपने पड़ोसी देशों की संस्कृति और साहित्य की जानकारी रखनी चाहिए। संस्कृति और सद्भावना के आधार पर दो देशों में जो मैत्री स्थापित होगी वह आन्ति और सन्देह को दूर कर सकेगी। इसी व्यापक और कल्याणमयी भावना से प्रेरित होकर आज समस्त राष्ट्र संस्कृति के पृष्ठपोषक बन गए हैं। संभव है इस सांस्कृतिक चहल-पहल के पीछे कहीं कहीं राजनीतिक स्वार्थ भी छिपे हों, पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण हम एक-दूसरे को

जानने और पहचानने में संलग्न हैं, जो बहुत ही मंगलमय चिह्न है। जिहाजा ऐसी ही सांस्कृतिक योजना को सुदृढ़ और फलवती बनाने की इच्छा से जब मैं ईरान पहुँचा तो मुझे ज्ञात हुआ कि भारत ईरान में कितना सामीप्य है, दोनों एक-दूसरे के कितने नजदीक रहे हैं और आज भी एक छोटा-सा ईरान हम भारत में बसाए हुए हैं। वास्तव में दूर की बात दूर की ही होती है, असली जानकारी देश-विदेश में पहुँचकर ही हो पाती है।

यद्यपि ईरानी और भारतीय दोनों ही आर्य वंशज हैं, पहले युग में दोनों के पूर्वज एक साथ ही रहे थे। पर समय और स्थान की दूरी ने दोनों को इतना पृथक कर दिया कि दोनों देशों का स्वरूप विभिन्न हो गया है। ईरान शब्द आर्य ही का अपभ्रंश है। आर्य ही आर्यन, एरियन कहलाए। यही एरियन शब्द उच्चारण परम्परा से अनेक स्वरूप बदलता हुआ ईरान बना। इसी प्रकार ईरान का दक्षिण पूर्वी भाग पहले परशुअस था, वही धीरे-धीरे परशु-परसु कहलाया। यूनानी ऐतिहासिकों ने उसे परस स

पश्चीमी देश ईरान

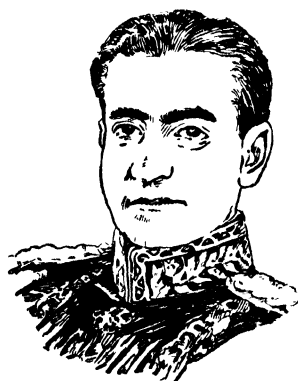
फारस नाम देकर उसे फारस बनाया और उन्नीसवीं शताब्दी में वह पर्शिया कहलाया। यह परशु शब्द भी आर्य संस्कृति का सूचक है और विश्वास किया जाता है कि परशु धारण करने वाले आर्य कभी इस के अधिपति रहे होंगे।

आर्य लोग कहीं से भी आए हों पर यह तथ्य है कि वे शताब्दियों तक इस प्रदेश में रहे और बाद में उनका एक दल हिन्दुकुश पर्वत माला लाँच कर उत्तर पश्चिम प्रदेश में सात नदियों के किनारे जा बसा। इसके पूर्व एक दल पहले ही पश्चिम की ओर जा चुका था और दूसरा इस मरु प्रदेश में टिका रहा। पारसीकों की आदिम धर्म पुस्तक जेन्द अवेस्था और पहलवी साहित्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल में ही कुछ

जरथुरत के समय एरोमेनियन राजघराना शासन कर रहा था। उन्होंने अपने प्रवचन, प्रचार और उपदेशों से राजा विशतप को जरथुरत धर्म का अनुयायी बनाया। उसके बाद प्रचार और तखवार के ज़ोर से वह धर्म फैलाया गया। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध और उनके शिष्यों ने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था, ठीक उसी प्रकार जगन और उत्साह से उन आर्यों ने अपने मत का प्रचार किया।

एरोमेनियन राजघराने के शासन काल में ईरान गौरव के शिखर पर था। इस वंश के सभी राजा अपने को आर्य मानते थे। राजा डारियस ने अपने शिलालेखों में मुक्त कंठ से यह स्वीकार किया है कि वे आर्य थे।

वास्तव में ईरान का इतिहास दो भागों में



ईरान के शाह



बेगम सोराया

धार्मिक विरोध हो गया था। संभव है, इसी विरोध भावना के कारण आर्यों का अन्तिम दल भी सप्त सिन्धुओं के देश जा पहुँचा हो।

भारत के समान ईरान का इतिहास भी उथल-पुथल से भरा है। महात्मा जरथुरत के जन्म से पूर्व अनेक राजघराने यहाँ शासन कर चुके थे जिनका सम्बन्ध मिस्र, यूनान, बेबीलोन से था। पारसियों के धर्म प्रवर्तक ऋषि

विभक्त किया जा सकता है। अरब आक्रमण से पूर्व सातवीं शताब्दी के मध्य भाग तक प्राचीन इतिहास की शृंखला बहुत गौरवमयी है। सन् ६५० ई० में अरबों ने आक्रमण कर अन्तिम ससानियन राजा को परास्त कर इस्लाम धर्म ईरान में स्थापित किया था। अरबों के आक्रमण से पूर्व ससानियन राजघराना भी आर्य था। इस राजघराने में अनेक प्रसिद्ध राजा हुए,

जिनमें सबसे अधिक लोकप्रिय और न्यायप्रिय राजा था नौशेरवाँ, जिसकी अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। न्याय, राजनीति, प्रजापालन में नौशेरवाँ की तुलना अशोक व अकबर से की जा सकती है।

आज शताब्दियों के अन्तर ने ईरान और भारतीय संस्कृति को पृथक कर दिया है, किन्तु प्राचीन काल में दोनों में कितना साम्य था यह तथ्य वेद और जेन्द अवेस्था पढ़ने से ज्ञात होता है। जिस प्रकार भारत में तात्कालिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्ध और जैन धर्म का उदय हुआ, ईरान की भूमि में जश्धुरत द्वारा प्रचारित पारसी धर्म भी उसी प्रकार पनपा और फैला। आचार-विचार, देवी-देवताओं की कथा, प्रकृति पूजा, यज्ञ, सोमपान आदि में वेद और अवेस्था में बहुत साम्य है। अवेस्था की गाथाएँ पढ़ते समय यही ज्ञात होता है कि वेद मंत्र पढ़े जा रहे हैं।

अरबों के आक्रमण ने आर्य संस्कृति को समाप्त कर दिया। तत्काल के बल पर उन्होंने इस्लाम धर्म का प्रचार किया और अन्धधुन्ध सारे देश को रौंद डाला। अरबों ने पहलवी के स्थान पर अरबी भाषा का प्रचार किया, किन्तु इस कार्य में वे सफल नहीं हो सके। देश में मुस्लिम धर्म का प्रचार अवश्य हुआ पर संस्कृति और भाषा बनी रही। इस आक्रमण के बाद भी चंगेज खॉं व तैमूरलंग तातारी के आक्रमण हुए पर अपनी संस्कृति और भाषा के पोषक ईरानी बार-बार सँभलते रहे। अनेक राजघराने आए, समाप्त हो गए, राजधानियाँ बदलों और उजड़ गईं पर ईरानियों ने अपनी संस्कृति का आँचल नहीं छोड़ा और आज भी वह संस्कृति जीवित है।

वास्तव में वर्तमान ईरान का जन्म व अभ्युदय रजाशाह पहलवी के शासन काल में हुआ। पहलवी वंश से पूर्व कजर वंश के तुर्कों

का राज्य था जिन्होंने आमोद-प्रमोद, कुशासन द्वारा ईरान को अत्यन्त शोचनीय अवस्था तक पहुँचा दिया था। रजाशाह ने विरवास और दृढ़ता के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तन किए और नया जीवन संचार किया।

जिस प्रकार कमाल पाशा ने तुर्कों को एक समृद्ध और व्यवस्थित राष्ट्र बनाया उसी प्रकार रजाशाह ने अपनी दूरदर्शिता, लगन और अध्यवसाय से ईरान की काया पलट दी। एक ओर तो उसने विदेशी सत्ताओं के पंजों से ईरान को मुक्त किया, दूसरी ओर धार्मिक रुढ़ियों का अन्त कर शिक्षा, उद्योग, शासन, समाज, रेल, तार, यातायात साधन आदि सभी क्षेत्रों में आशावादी सुधार किए। रजाशाह में शासक की प्रतिभा थी, सुधारक की लगन थी और नायक की योग्यता थी। इसलिए अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए उसने द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ईरान को एक व्यवस्थित राष्ट्र का रूप दे दिया था।

पेट्रोल के कारण सभी राष्ट्र समय समय पर ईरान को हस्तगत करने का प्रयत्न करते रहे हैं। पेट्रोल के कारण जहाँ यह देश समृद्ध हुआ है, वहाँ अनेक देश शत्रु भी बने हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व रजाशाह का जर्मनी से अच्छा सम्पर्क था, किन्तु युद्ध के कारण सारी स्थिति बदल गई थी। रशिया तक युद्ध सामग्री पहुँचाने के लिए मित्र राष्ट्रों को ईरान की आवश्यकता थी और उन्होंने एक दिन वहाँ अमेरिकी फौजें भेज दीं। एक ओर से अमेरिकी फौजें चलीं तथा दूसरी ओर अज़ेरबैजॉन पर रशियन फौजों का अधिकार हो गया। रजाशाह को जर्मन सहायुभूति के कारण देश निकाला दे दिया गया। अत्यन्त अपमान और क्षोभ के कारण दक्षिण अफ्रीका में उसकी मृत्यु हो गई।

महायुद्ध के बाद ईरान को स्वतन्त्र राज्य तो बना दिया गया, पर रूसी फौजें बहुत दिन

पड़ोसी देश ईरान

तक अजेरबैजॉ में टिकी रहीं। बहुत प्रयत्न और आग्रह के बाद रूसी फौजें वापस चली गईं पर



रजाशाह

वह प्रदेश कम्युनिस्टों का प्रचार क्षेत्र बन गया, जिसके कारण समय समय पर ईरान में उथल-पुथल होती रही।

रजाशाह के बाद उनके पुत्र वर्तमान शाह शासक बने। वर्तमान शाह और उनकी लोक-प्रिय मजिदा सोराया दोनों ही बहुत मिलनसार और सरल हैं। यद्यपि वर्तमान शाह को अनेक बार कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर इनकी देखरेख में यह देश काफ़ी प्रगति कर सका है। पिछले पाँच वर्षों में शिक्षा, अर्थव्यवस्था, उद्योग तथा कृषि-साधन में बहुत प्रगति हुई है।

अभी हाल में जो जन गणना हुई है उससे पता चलता है कि राष्ट्र की समस्त जन संख्या लगभग दो करोड़ है। इसका क्षेत्रफल ६,३०,००० वर्गमील है। बहुत सा भाग पहाड़ी है और एक-चौथाई भाग बंजर है। इसलिए केवल एक-चौथाई भाग ही खेती के योग्य है। देश के उत्तर भाग में कास्पियन सागर है और सागर के दोनों ओर रूस के काकेशस पर्वत की शृंखला लगी हुई है। दक्षिण

में पर्शिया की समुद्री खाड़ी है, पश्चिम में इराक, सीरिया व तुर्की हैं और पूर्व में है पाकिस्तान और अफगानिस्तान। इस भौगोलिक परिस्थिति और पेट्रोल की खानों के कारण ईरान मध्य पूर्वी देशों का मुख्य द्वार माना जाता है।

ईरान और भारत के सम्बन्ध बहुत पुराने हैं। अरबों के आक्रमण के बाद अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए ईरानियों का एक बहुत बड़ा दल समुद्री राह से भारत जा पहुँचा था। यह दल पहले गुजरात में और बाद में बम्बई में बस गया और फारस से आने के कारण पारसी कहलाया। यद्यपि अनेक विदेशी समय समय पर भारत में आए और वे देश की समाज व्यवस्था में घुल-मिल कर भारत के अभिन्न अंग बन गए, पर पारसी मतावलम्बियों ने स्वयं को स्वतन्त्र रखा। यद्यपि इन लोगों के धार्मिक विचार ईरानी जरथुश्त्रियों से मिलते-जुलते हैं फिर भी रीति-रिवाजों में कुछ अन्तर आ गया है। इस प्रकार पारसी सम्प्रदाय के रूप में भारत में एक छोटा-सा ईरान आज भी बसा हुआ है। इन पारसियों के अतिरिक्त नौशेखों के युग में बर्जे नामक एक हकीम संजीवनी औषधि की खोज में ईसवी पाँचवीं सदी में भारत पहुँचा था। वहाँ संजीवनी तो उसे मिली नहीं पर एक पंडित के आग्रह पर उसने पंच-तन्त्र पढ़ कर उसका अनुवाद पहलवी भाषा में किया था। 'दिमना कलीला' के नाम से यह ग्रन्थ बहुत दिन तक प्रचलित रहा। पहलवी से अरबी में और बाद में आधुनिक फारसी तथा अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद होता रहा। पिछली शताब्दी के अन्तिम भाग तक किसी को यह ज्ञात नहीं था कि 'दिमना कलीला' क्या वस्तु है। बाद में पता चला कि पंचतन्त्र में दमनक करटक नाम के दो गीदड़ों के आधार पर यह नामकरण किया गया था।

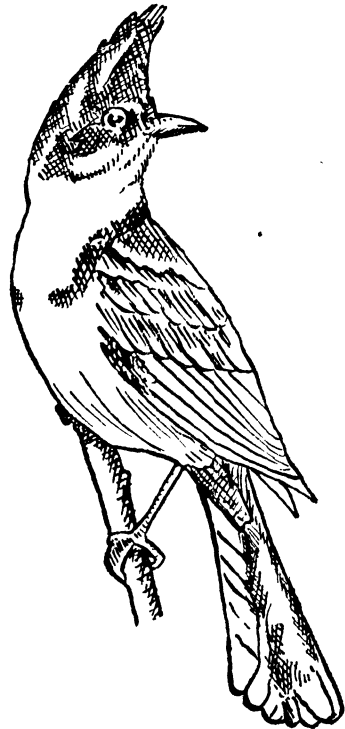
भारत से शतरंज के खेल का आगमन भी नौशेरवाँ के युग में ही हुआ था, ऐसा विद्वानों का मत है। इसके बाद मुगल शासन काल में ईरान से सम्पर्क बहुत बढ़ गए थे। भारतीय चित्रकला, स्थापत्यकला और साहित्य पर ईरान का बहुत प्रभाव पड़ा। फारसी मुगल दरबार की राजभाषा थी, इसलिए भारतीय शासन व्यवस्था भी ईरानी संस्कृति से प्रभावित हुई। इस समय ईरान के प्राचीन कवि और सूफी विचारों का प्रवेश भी भारत में हुआ, जिसका भारतीय संस्कृति और साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

स्वभावतः यह प्रश्न सामने आता है कि जब ईरान तथा अन्य देशों से अनेक व्यक्ति समय-समय पर भारत पहुँचते रहे, तब भारतीय कारीगर व कवि इन पड़ोसी राष्ट्रों में क्यों नहीं पहुँचे। अलबेत्तनी के समान किसी भारतीय ने ईरान में आकर यहाँ के साहित्य और संस्कृति का अध्ययन क्यों नहीं किया? यह मार्ग इकतर्फा इसलिए बना रहा कि भारत में गुप्तकाल के बाद कोई स्थायी शासन व्यवस्था नहीं बन सकी। मुगलों के आगमन से पूर्व जो भी राज्य थे वे अशक्त और छोटे थे। इसके अतिरिक्त संस्कृति प्रचार के अतिरिक्त भारत ने पड़ोसी राष्ट्रों पर आधिपत्य के लिए कभी प्रयत्न नहीं किया। इसीलिए भारत विदेशियों का स्वागत करता रहा और अन्य राष्ट्रों में उसने अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे।

ईरान गुल और बुलबुल का देश है। अनेक आक्रमण और क्रान्तियों के बाद भी ईरानी संस्कृति का यह पहलू कभी फोका नहीं पड़ा। ईरानी लोग फिरदौसी, खय्याम, हाफिज, सादी, रूमी आदि कवियों के अनन्य उपासक हैं। फिरदौसी का 'शाहनामा' एक अद्वितीय महाकाव्य है। इस काव्य में कायानियन वंश से लेकर ससानियन राजवंश के शासन काल तक का लोमहर्षक वर्णन है। आर्यों के गौरव,

अरबों की बर्बरता, वीरों के अपूर्व साहस का परिचय सभी कुछ इस महाकाव्य में है। शिक्षित व अशिक्षित सभी ईरानियों को शाहनामा, दीवाने हाफिज, गुलिस्तों के हजारों शेर याद हैं। और बख्तियारी वर्ग के वीर आज भी जब कहीं युद्ध के लिए जाते हैं तो एक घण्टे तक शाहनामा के ओजपूर्ण स्थल गा कर उन्मत्त हो जाते हैं। सच तो यह है ईरान को इन कवियों की अमरवाणी ने बहुत संबल दिया है, इसलिए इन कवियों को ईरानी भूल नहीं पाते। स्थान-स्थान पर स्मारकों और कवियों की स्मृति में अनेक भव्य स्थानों का नाम रख कर ईरानी उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करते आए हैं।

ईरान की राजधानी तेहरान है। समुद्र की सतह से लगभग ४,२०० फुट ऊँचाई पर एल-



पड़ोसी देश ईरान

जुजं पर्वत माला की उपत्यका में यह शहर बसा है। शहर नया है, और आधुनिक ढंग का है। लम्बी खुली सड़कें, स्थान-स्थान पर भव्य इमारतें, सड़क के दोनों ओर सुन्दर चिनार के वृक्ष, खुले मैदान—इन सब के कारण तेहरान का आकर्षण बहुत बढ़ गया है। इस वर्ष जो जन गणना हुई है उसके अनुसार तेहरान की जनसंख्या लगभग २०,००,००० है। तेहरान के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध नगर हैं इस्फ़हान, शीराज़, तब्रिज, मशहद आदि। कास्पियन सागर के आस-पास का भूभाग उर्वर और बहुत सुन्दर है। रामसर, बाबुलसर आदि नगर अपनी रमणीयता के लिए विख्यात हैं। ईरान में अभी यातायात की सुविधाएँ कम हैं, धीरे-धीरे यह अभाव दूर किया जा रहा है।

भाषा, भाव, वेशभूषा सभी पर पश्चात्य प्रभाव बढ़ रहा है। ईरानी भाषा में फ्रेंच भाषा के बहुत से शब्द समाविष्ट हो गए हैं। आजकल शिक्षित व्यक्ति अंग्रेज़ी भी पढ़ने लगे हैं, किन्तु पाँच वर्ष पूर्व तक सब फ्रेंच पढ़ते थे और सभी बातों के लिए फ्रांस से प्रेरणा ग्रहण करते थे। ईरानी अपने शिष्टाचार और मिष्टभाषण के लिए विख्यात हैं और इसलिए फ्रेंच संस्कृति और रहन-सहन से अधिक प्रभावित हुए हैं। नगरों में अधिकांश व्यक्ति पश्चात्य वेश-भूषा

धारण करते हैं। रजाशाह के युग में महिलाओं को पर्दे से बाहर निकलने की स्वतन्त्रता मिली थी। उसने ईरान की काया पलट दी है। रूप, रंग, शृंगार, आकर्षण में ईरानी महिलाएँ यूरोप की संभ्रान्त महिलाओं के समकक्ष हैं। पुरुषों के साथ-साथ वे भी हर क्षेत्र में काम कर रही हैं और अपनी अशिक्षित तथा चादरे में लिपटी बहनों को पर्दे से बाहर निकाल रही हैं।

ईरान में जहाँ भी देखिए, यह स्पष्ट लक्षित होता है कि यह देश नई करवट ले रहा है। स्वस्थ और सुन्दर चेहरों पर सुनहले भविष्य की आभा दिखाई देती है। शिक्षा, तथा उद्योग की योजनाओं द्वारा अज्ञान, अविद्या और बेकारी से मोर्चा लिया जा रहा है। इस्लाम के प्रचार के बाद भी ईरानी असहिष्णु और कट्टर नहीं हैं। भारत के समान वे भी विदेशी आगन्तुकों का स्वागत करते रहे हैं और मानव धर्म पर विश्वास करते हैं। भौगोलिक परिस्थिति, पेट्रोल की खान, तथा प्राचीन संस्कृति के कारण जहाँ इस देश का अतीत गौरवमय है, विश्वास किया जा सकता है कि ईरानी नर-नारियों के चरण इस देश को उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जा सकेंगे। प्राचीन काल में जिस प्रकार ईरान और भारत एक ही थे उसी प्रकार भविष्य में भी इन आर्य देशों का सम्बन्ध बना रहेगा।

—बयपुर से प्रसारित



भास

डा० आर्येन्द्र शर्मा

सन् १९१० से पहले भास के विषय में हम इतना ही जानते थे कि वह कालिदास से पूर्ववर्ती एक महाकवि और नाटककार थे। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में वाण ने 'हर्षचरित' में, दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में, राजशेखर ने 'कविविमर्श' में और जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' में भास को उत्कृष्ट कोटि का और यशस्वी कवि तथा नाटककार कहा है। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त, सोमदेव, हेमचन्द्र आदि कुछ अन्य साहित्यकारों ने भी भास की चर्चा की है, और किसी-किसी ने भास के नाम से कुछ श्लोक भी उद्धृत किए हैं। किन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य में भास के नाम से केवल एक कृति—स्वप्नवासवदत्ता—का ही उल्लेख मिलता है और वह भी दो ही ग्रन्थों में, एक 'कवि-विमर्श' में और दूसरे रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण' में।

सन् १९१० के लगभग त्रिवेन्द्रम के महा-महोपाध्याय गणपति शास्त्री को तेरह संस्कृत नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं। इन नाटकों के नाम ये हैं:—स्वप्ननाटक, प्रतिज्ञा-नाटक, पञ्चरात्र, चारुदत्त, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच अविमारक, बालचरित, मध्यमव्यायोग, कर्णभार ऊरुभंग, अभिषेकनाटक, और प्रतिमानाटक। हस्तलिखित प्रतियों में नाटकों के रचयिता का नाम कहीं नहीं दिया गया है। किन्तु नाटकों की शैली आदि पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सब एक ही व्यक्ति के लिखे हुए हैं। 'कविविमर्श' और 'नाट्यदर्पण' में जिस

'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक का भास की कृति के रूप में उल्लेख किया गया है, उसे श्री गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम में उपलब्ध 'स्वप्ननाटक' से अभिन्न मान कर यह निष्कर्ष निकाला है कि ये तेरहों नाटक महाकवि भास के ही लिखे हुए हैं। अनेक विद्वानों ने श्री गणपति शास्त्री के निष्कर्ष को मान्यता दी है, किन्तु अन्य विद्वानों का कहना है कि ये नाटक भास की रचना नहीं हैं। भास के नाम से जो पद्य प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं, उनमें से एक का भी इन नाटकों में पता नहीं है। इन विद्वानों के अनुसार त्रिवेन्द्रम में उपलब्ध नाटक ७वीं-८वीं शताब्दी से पहले के नहीं हैं। विद्वानों के एक दल का अनुमान है कि इन नाटकों में से कुछ—शायद दो-तीन—भास की रचना हो सकते हैं, शेष किसी परवर्ती नाटककार ने लिखे हैं। प्रत्येक दल ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में सबल युक्तियाँ और प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। किन्तु लगभग चालीस वर्षों तक इस समस्या पर वाद-विवाद हो चुकने के बाद भी कोई सर्व-सम्मत सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। हाँ, इस समस्या से सम्बन्धित कुछ बातें अवश्य ऐसी हैं जिनके विषय में अधिकांश विद्वान एकमत हैं। भास नाम के एक प्राचीन महाकवि हुए हैं, इसमें किसी को सन्देह नहीं है। इन्होंने 'स्वप्नवासवदत्ता' नामक नाटक लिखा था, यह भी प्रमाणित हो चुका है, भले ही त्रिवेन्द्रम में उपलब्ध 'स्वप्ननाटक' उससे भिन्न हो। भामह, वामन, दण्डी, अभिनवगुप्त आदि प्राचीन आलोचक भास की कृतियों से

परिचित थे, जिनका कुछ न कुछ सम्बन्ध त्रिवेन्द्रम के नाटकों से है। यह भी मानना ही पड़ता है कि ये नाटक एक ही कवि की कृतियाँ हैं, इनमें अभिनेयता है, अनेक साहित्यिक गुण हैं, और साथ ही कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनके कारण इन्हें कालिदास से पूर्ववर्ती युग से सम्बन्धित किया जा सकता है, यह भी प्रायः सर्व-सम्मत है। साथ ही, इस तथ्य का भी अपलाप नहीं किया जा सकता कि प्राचीन ग्रन्थों में जो रत्नोक्त आदि भास के नाम से उद्धृत हैं, उनका पता इन नाटकों में नहीं मिलता। ये नाटक न केवल देश में उपलब्ध हुए हैं, प्रत्युत कुछ ऐसी विशेषताएँ लिए हुए भी हैं जो केरल में प्रचलित अन्य संस्कृत नाटकों में भी मिलती हैं।

तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि त्रिवेन्द्रम में प्राप्त नाटक भास कृत प्राचीन नाटकों के परिवर्तित, संक्षिप्त संस्करण हैं। यह परिवर्तन और संक्षेप प्राचीन नाटकों को अभिनेय बनाने के लिए किया गया है, सम्भवतः केरल देश के पेशेवर अभिनेताओं ने, जिन्हें चक्षियार कहा जाता है, भास के नाटकों को इस रूप में परिवर्तित किया होगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि यद्यपि उपलब्ध नाटकों में भास की कृतियाँ अपने मूलरूप में ज्यों की त्यों सुरक्षित नहीं मिलती, फिर भी उनका बहुत बड़ा अंश भास की ही रचना है। बल्कि हम यह मान सकते हैं कि चक्षियारों ने प्राचीन नाटकों का संक्षेपमात्र किया है, उनमें अपनी ओर से कुछ जोड़ा नहीं है और इसलिए ये नाटक अपने उपलब्ध रूप में भास की ही रचना हैं।

भास किस शताब्दी में हुए थे, इस प्रश्न का भी निश्चित उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। वह निस्सन्देह कालिदास से दो-तीन शताब्दी पहले के हैं, क्योंकि कालिदास ने उनका निर्देश एक प्रख्यात कवि के रूप में किया

है। पर कठिनाई यह है कि स्वयं कालिदास का भी समय अनिश्चित है। अनेक भारतीय विद्वान कालिदास को ईसवी पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं। इस आधार पर भास का समय ई० पू० चौथी शताब्दी माना जा सकता है। भास के नाटकों में यत्र-तत्र ऐसी भाषा का प्रयोग हुआ है जो पाणिनि व्याकरण का अनुसरण नहीं करती। इस आधार पर कहा जा सकता है कि भास के युग में पाणिनि व्याकरण को व्यापक मान्यता नहीं मिल पाई थी। पाणिनि का समय ई० पू० छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है। फलतः भास का समय ई० पू० चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना जा सकता है। भास के नाटकों में वर्णित सामाजिक परिस्थिति आदि से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है।

भास की जीवनी के विषय में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। अनुमान किया जाता है कि वह एक निष्ठावान विष्णुभक्त ब्राह्मण थे और उत्तर भारत के निवासी थे। उनके नाटकों में दक्षिण भारत के राजवंशों का, अथवा वहाँ के नदी, वन, पर्वतों का कोई निर्देश नहीं मिलता। किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन नाटकों का प्रचार दक्षिण भारत में ही हुआ और इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ हमें दक्षिण से ही मिलीं।

भास की कृतियों के रूप में 'स्वप्न' आदि तेरह नाटक प्रसिद्ध हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त षट्सर्पर काव्य, त्रैविक्रमनाटक, दामक प्रहसन, भरत के नाट्यशास्त्र से भिन्न एक नाट्यशास्त्र, वीरगाथासवदत्ता नाटक और यज्ञफल नाटक को भी भास रचित बताया जाता है। किन्तु इनमें से केवल 'यज्ञफल' नाटक को ही भास की कृति माना जा सकता है। अन्य ग्रन्थ निश्चित रूप से भास की रचनाएँ नहीं हैं। भास के लिये 'नाट्यशास्त्र' का कोई पता नहीं चलता। 'यज्ञफल' नाटक की हस्तलिखित प्रति उत्तर-

भारत की है और अधिक प्राचीन नहीं है। पर इसकी शैली आदि से अनुमान होता है कि यह भास की रचना है।

त्रिवेन्द्रम के तेरह नाटकों में से मध्यम-व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, ऊरु-भंग और पञ्चरात्र इन छः नाटकों की कथा-वस्तु महाभारत से ली गई है। 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' इन दो का आधार रामायण की कथा है। 'बाल चरित' में कृष्ण लीला का वर्णन है। 'स्वप्ननाटक' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में सुप्रसिद्ध राजा उदयन की कथाएँ हैं। 'अवि-मारक' और 'चारुदत्त' के कथानक सम्भवतः लोक-कथाओं से लिये गए हैं। उत्तर भारत से प्राप्त 'यज्ञफल' की कथा-वस्तु रामायण से ली गई है।

'मध्यमव्यायोग' एक एकांकी नाटक है—जिसमें पुरुष-पात्र अधिक संख्या में हैं, स्त्री-पात्र कम। मध्यमव्यायोग के नायक भीमसेन हैं, जो एक ब्राह्मण पुत्र के प्राण बचाने के लिए अपने पुत्र घटोत्कच से युद्ध करते हैं। संक्षेप में कथा यह है—घटोत्कच अपनी माता हिडिम्बा राक्षसी के भोजन के लिए वन में घूमते हुए एक ब्राह्मण परिवार का पकड़ लेता है। ब्राह्मण के तीन पुत्रों में से मध्यम पुत्र अपने परिवार को बचाने के लिए घटोत्कच के साथ चला देता है। घटोत्कच जब उसे 'मध्यम, मध्यम' कह कर पुकारता है तब उसी वन में रहने वाले मध्यम पाण्डव भीमसेन, अपना नाम पुकारा जाता समझ कर घटोत्कच के पास पहुँच जाते हैं। सब हाल जानने के बाद वह ब्राह्मण पुत्र के बदले स्वयं हिडिम्बा का आहार बनने को तैयार हो जाते हैं, यदि घटोत्कच उन्हें युद्ध में जोत ले। घटोत्कच युद्ध में हार जाता है फिर भी भीमसेन उनके साथ हिडिम्बा के पास चले जाते हैं, हिडिम्बा भीम को पहचान कर पिता पुत्र का मिलन करा देती है। यह कथा

महाभारत पर आधारित तो है, पर मूल से बहुत भिन्न है। वस्तुतः भास ने हिडिम्बा-हिडिम्बा की कथा और बक-राक्षस की कथा को मिला कर एक नई ही कथा की सृष्टि कर ली है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशोपाख्यान का भी कुछ प्रभाव इस नाटक की कथा-वस्तु में दिखाई देता है। नाटक का 'मध्यमव्यायोग' नाम मध्यम ब्राह्मण पुत्र और मध्यम पाण्डव की ओर संकेत करता है, कुल मिला कर 'मध्यमव्यायोग' एक सुन्दर एकांकी नाटक है, जिसे कृष्ण और वीर रसों के अभूतपूर्व मिश्रण तथा घटना-क्रम और चरित्र-चित्रण की रमणीयता ने अत्यन्त सजीव बना दिया है। 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार', और 'ऊरुभंग' भी एकांकी ही हैं।

'दूतवाक्य' में कौरव-पाण्डवों में सन्धि कराने के लिए भगवान कृष्ण के दौत्य का वर्णन है। श्रीकृष्ण जब सन्धि का सन्देश लेकर आते हैं उस समय दुर्योधन युद्ध मंत्रणा कर रहा है। वह सब राजाओं को आदेश देता है कि कृष्ण के आने पर कोई न उठे, और स्वयं एक चित्र देखने लगता है, जिसमें द्रौपदी के वस्त्र हरण का दृश्य अंकित है। दुर्योधन सन्धि का प्रस्ताव ठुकरा देता है और कृष्ण का अपमान करता है। कृष्ण जब जाने लगते हैं तब वह उन्हें बाँध लेने का प्रयत्न करता है। कृष्ण अपनी माया से उसके प्रयत्न निष्फल कर देते हैं, और सुदर्शन-चक्र का आह्वान करते हैं। पर बाद में शान्त होकर चक्र तथा अन्य शस्त्रों को लौटा देते हैं। अन्त में धृतराष्ट्र श्रीकृष्ण के पैरों पर गिर कर क्षमा माँगते हैं।

यह कथा महाभारत से ली गई है; पर द्रौपदी के चित्र तथा सुदर्शनादि शस्त्रों के उपस्थित होने की घटनाएँ भास की अपनी कल्पना हैं। यह एकांकी अपने घटनाक्रम के कारण रंगमंच पर बहुत लोकप्रिय हुआ होगा।

‘दूतघटोत्कच’ की कथा संक्षेप में यह है :
 धृतराष्ट्र अभिमन्यु-वध का समाचार पाकर इस
 कुकर्म की निन्दा कर रहे हैं, इतने में दुर्योधन
 दुःशासन आदि उनका अभिनन्दन करने आते
 हैं। धृतराष्ट्र उन सबसे अप्रसन्न हैं और अर्जुन
 के क्रोध के फलस्वरूप अपने कुल-क्षय की बात
 करते हैं। इतने में समाचार मिलता है कि
 अर्जुन ने अगले दिन सूर्यास्त से पहले जयद्रथ
 को मारने की प्रतिज्ञा की है। धृतराष्ट्र के
 व्याकुल होने पर दुर्योधन जयद्रथ की रक्षा का
 वचन देते हैं। इसी समय धृतराष्ट्र के प्रति कृष्ण
 का यह सन्देश लेकर घटोत्कच आता है कि
 अर्जुन शीघ्र ही कौरव-कुल का नाश कर देंगे,
 और आपको पुत्र-शोक सहना पड़ेगा। इस पर
 दुर्योधन तथा घटोत्कच में कुछ देर तक वाक्-
 कलह होता है और अन्त में घटोत्कच यह कह
 कर चला जाता है कि कल अर्जुन तुम्हारा काल
 बनकर रणभूमि में आएँगे। घटोत्कच के दौख्य
 की यह कथा भास की अपनी ही कल्पना है।
 महाभारत में इसकी कहीं बर्चा नहीं है।

‘कर्णभार’ में कर्ण की दानवीरता का चित्रण
 है। कौरवों के सेनापति बनने के बाद कर्ण
 युद्ध-भूमि के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। अपने
 ही छोटे भाइयों से युद्ध करना पड़ेगा, यह सोच
 वह विषण्ण होते हैं और अपने सारथि शक्य
 को परछुराम के शाप का वृत्तान्त सुनाते हैं।
 इसी समय ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र वहाँ आकर
 कर्ण के उन कवच और कुण्डलों को माँगते हैं,
 जिनके रहते हुए कर्ण को कोई मार नहीं सकता
 था। दानवीर कर्ण तुरन्त ही अपने कवच-
 कुण्डल इन्द्र को दे देते हैं, युद्ध-भूमि की ओर
 बढ़ जाते हैं। इन्द्र देवदूत के द्वारा विमला
 नाम की अमोघ शक्ति कर्ण के पास भेजते हैं।
 यहाँ भी भास ने अपनी कल्पना का उपयोग
 किया है। महाभारत के अनुसार इन्द्र ने
 कर्ण के कवच-कुण्डल को युद्ध प्रारम्भ होने से

बहुत पहले ही माँग लिया था। भास ने इस
 घटना को युद्ध यात्रा के अवसर पर रख कर
 कर्ण की दानवीरता को श्लाघ्य से श्लाघ्यतर
 बना दिया है।

‘ऊरुभंग’ में दुर्योधन और भीम के अन्धिम
 गदा-युद्ध का वर्णन है। इस एकांकी में भास
 ने दुर्योधन के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष चित्रित
 किया है। कृष्ण के संकेत पर जब भीम दुर्योधन
 की जंवा में गदा मार कर उसे गिरा देते हैं,
 तब इस अन्याय पर अत्यन्त क्रोध होकर
 बलराम पाण्डवों को मारने को उद्यत होते
 हैं। इस समय दुर्योधन ही अपने दोषों की
 बात कह कर उन्हें शान्त करता है। उसी
 अवसर पर धृतराष्ट्र गान्धारी दुर्योधन की
 पत्नियाँ और उसका पुत्र दुर्जय वहाँ आ पहुँचते
 हैं। इनके बिलाप आदि का कर्ण दृश्य भास
 ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। मरते-
 मरते दुर्योधन अपने पुत्र को पाण्डवों की
 आज्ञा पालन करने का सदुपदेश देता है। और
 प्रतिहिंसा की भावना से उन्मत्त अश्वत्थामा को
 भी शान्त करने की चेष्टा करता है।

महाभारत में धृतराष्ट्र आदि के युद्धस्थल
 पर पहुँचने का वर्णन नहीं है। भास ने यह
 नई परिस्थिति स्पष्ट ही दृश्य को कर्ण बनाने
 के लिए कल्पित की है और उसमें वह सफल
 भी हुए हैं।

महाभारत की कथा से सम्बद्ध कुछ नाटक
 ‘पंचरात्र’ है, जिसमें तीन अंक हैं। उस
 नाटक की कथा-वस्तु अधिर्वांश में कल्पित है।
 दुर्योधन, द्रोणाचार्य के पौरोहित्य में एक यज्ञ
 करता है, जिसकी दक्षिणा में द्रोणाचार्य यह
 माँगते हैं कि दुर्योधन पाण्डवों को आधा राज्य
 देकर उनसे सन्धि कर ले। दुर्योधन यह
 दक्षिणा देना इस शर्त पर स्वीकार कर लेता
 है कि अज्ञातवासी पाण्डवों का पता पाँच दिनों
 के अन्दर मिल जाए। उसी बीच में कौरव

विराट की नगरी पर आक्रमण करते हैं, जहाँ पाण्डव छिपे हुए हैं। कौरवों के साथ युद्ध में पाण्डव विराट की सहायता करते हैं और पहचान लिये जाते हैं। अन्त में द्रोण के कहने पर दुर्योधन पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिए तैयार हो जाता है। महाभारत में यज्ञ, दक्षिणा और दुर्योधन के आधा राज्य देने की तैयार होने की कहीं चर्चा नहीं है।

रामायण पर आधारित, भास के दोनों नाटक, 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' आकार में बड़े हैं। प्रतिमा में सात अंक हैं और अभिषेक में छः। प्रतिमा की कथा दशरथ द्वारा राम के अभिषेक की तैयारी से प्रारम्भ होती है और लंका से पुष्पक द्वारा आयोध्या के लिए प्रस्थान पर समाप्त होती है। अभिषेक की कथा किष्किन्धा में बालि-सुग्रीव के युद्ध से प्रारम्भ होती है और आयोध्या में राम के अभिषेक पर समाप्त होती है। भास ने दोनों नाटकों में मूल कथा को कई स्थलों पर बदल दिया है।

भास के 'बालचरित' नाटक में पाँच अंक हैं। इसकी कथा श्रीकृष्ण के जन्म से प्रारम्भ होती है और कंस-वध के बाद उग्रसेन के मथुरा के सिंहासन पर अधिष्ठित होने के साथ समाप्त होती है। भास ने इस नाटक की कथा-वस्तु कहँ से ली है, यह कहना कठिन है। श्रीमद्भागवत, विष्णु-पुराण, तथा हरिवंश-पुराण में वर्णित कृष्ण-चरित से भास के वर्णन बहुत भिन्न हैं। भास के नाटक में राधा तथा गोपियों से सम्बन्धित शृंगारिक वर्णन बिल्कुल ही नहीं हैं।

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' और 'स्वप्ननाटक' सुप्रसिद्ध राजा उदयन के जीवन की कुछ घटनाओं पर आधारित हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में चार अंक हैं, जिनमें वत्सराज उदयन का उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के द्वारा पकड़ लिए

जाने का, उदयन और प्रद्योत की पुत्री वासव-दत्ता के पारस्परिक प्रेम का तथा अपने मन्त्री यौगन्धरायण की चतुरता से उदयन और वासवदत्ता के उज्जयिनी से भाग निकलने का वर्णन है।

'स्वप्न' अथवा 'स्वप्नवासदत्ता' नाटक भास की कृतियों में शायद सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसमें छः अंक हैं। उसकी कथा पहले नाटक में वर्णित उदयन और वासवदत्ता के विवाह के बाद से प्रारम्भ होती है। उदयन पर शत्रुओं ने आक्रमण किया है। मन्त्री यौगन्धरायण चाहता है कि उदयन का विवाह मगध की राजकुमारी पद्मावती से भी हो जाए, जिससे मगध राज्य की मित्रता द्वारा उदयन की शक्ति बढ़ सके, और वह अपने शत्रुओं को हरा सके। उदयन उसके लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि वह वासवदत्ता से अतिशय प्रेम करता है। यौगन्धरायण वासवदत्ता से सलाह करके, अवसर पाने पर यह समाचार फैला देता है कि वासवदत्ता और यौगन्धरायण दोनों ही महल में आग लग जाने के कारण जल कर मर गए। यौगन्धरायण वासवदत्ता को अपनी बहन बता कर पद्मावती को सौंप देता है, और स्वयं प्रच्छन्न वेश में रहने लगता है। उदयन अन्त में पद्मावती से विवाह कर लेता है, यद्यपि वासवदत्ता का बराबर स्मरण करता रहता है। वासवदत्ता पद्मावती की दासी के रूप में उदयन के महल में रहने लगती है। अन्त में विचित्र परिस्थितियों में उदयन और पद्मावती वासवदत्ता को पहचान लेते हैं। यौगन्धरायण भी अपने आपको प्रकट करके सब रहस्य खोल देता है। उसी बीच में उदयन के शत्रु भी पराजित हो जाते हैं। इस प्रकार सब सुख-पूर्वक जीवन-यापन करने लगते हैं।

इस नाटक में भास ने सभी चरित्रों का चित्रण अत्यन्त कुशलता-पूर्वक किया है।

विशेषकर वासवदत्ता का चरित्र तो बहुत ही सुन्दर उतरा है।

भास के अन्तिम दो नाटक 'चारुदत्त' और 'अविमारक', संभवतः लोककथाओं पर आधारित हैं। चारुदत्त की कथा अधिकांश में वही है, जो संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक की, किन्तु इस नाटक के केवल चार ही अंक उपलब्ध हैं, जिनमें चारुदत्त की कहानी पूरी नहीं हो पाती। चारुदत्त और मृच्छकटिक, के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में बहुत वाद-विवाद चल चुका है। 'अविमारक' में छः अंक हैं। उसमें अविमारक नाम के राजकुमार और कुरंगी नाम की राजकुमारी के प्रेम, वियोग और पुनर्मिलन का वर्णन है।

उत्तर-भारत से प्राप्त 'यज्ञफल' नाटक में रामायण के प्रारम्भिक अंश की कथा है अर्थात् राम-जन्म से लेकर राम सीता के विवाह तक की। इस प्रकार यह नाटक, एक तरह से, 'प्रतिमा' का पूर्व भाग है।

भास के ये चौदहों नाटक कला की दृष्टि से एक ही कोटि में नहीं रखे जा सकते। कुछ में भास का शिल्प-नैपुण्य असफल ही रह गया है, और कुछ में उसका पूर्ण विकास हुआ है। फिर भी सब मिलाकर इनके रचयिता को बिना अत्युक्ति के अत्युत्कृष्ट कवि और नाटककार माना जा सकता है। सरलता, स्वाभाविकता, नूतनता तथा सजीवता और अभिनेयता इन कृतियों के विशेष गुण हैं। चरित्र-चित्रण में भास की कुशलता सर्वमान्य है। घटनाओं के वर्णन और चयन में भी वे अतीव निपुण हैं। उनकी भाषा में प्रवाह और सरलता के साथ-साथ ओज भी पर्याप्त मात्रा में है। उनकी कल्पनाशक्ति असाधारण और उनका मानव-हृदय का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर तथा सूक्ष्म है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण भास कविकुलगुरु कालिदास से भी प्रशंसा पा सके हैं।

—हैदराबाद से प्रसारित



शम्भूनाथ सिंह

मेरी इच्छाएं
जो पतझर के पातों सी भर गईं,
जो डाली डाली को
बेपर्दा कर गईं,
कौन कहता है, वे मर गईं ?

वे मेरी मिट्टी में
खाद बन समा गईं
रस धारा बन कर
वे मुझ से ही आ गईं
बन कर रेशमी
गन्ध भीना अवगुंठन
वे फिर मुझ पर छा गईं।

अपनी इच्छाओं से ही तो
मैं निर्मित हूँ !
उनके रूपान्तर में ही तो
मैं जीवित हूँ !
मैं उनका फल हूँ
मैं उनको ही अर्पित हूँ !

—इलाहाबाद से प्रसारित

समर्पण

भगवती प्रसाद वाजपेयी

पापी व्यक्ति बुद्धि तत्त्व भले ही मन्द रखता हो पर भावना के क्षेत्र में वह बड़ा क्रान्तिकारी होता है ।

सारी रात गज्जू ने जागते हुए व्यतीत कर दी । कभी उसको मालूम होता कि सेठ लो रहा है, उसको नींद आ गई है ; पर फिर थोड़ी देर बाद उसका यह विचार मिथ्या सिद्ध होता । कभी सेठ अपना हाथ सिर की ओर बढ़ा देता, कभी एक पैर कुछ अधिक सीधा तान देता । कभी उसके पैर का झँगूठा संकुचित हो उठता और कभी ऊपर को सर उठ जाता । उस तरफ की खिड़की खुली हुई थी । इसलिए एक बार तो उसने अपना पैर खिड़की पर ही रख लिया । इस तरह होते-करते रात बीत गई, पर न तो चिमन सेठ पूरी तरह सोया और न सोया गज्जू ।

अन्त में दिल्ली-शाहदरा आ गया और चिमन सेठ उठ बैठा । उठकर जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला और दियासलाई से उसे जलाने की चेष्टा की । मगर पंखे की हवा के कारण दियासलाई बुझ गई । संयोग की बात कि उसकी डिब्बी में वही एक सलाई बची थी ।

तब उसके मुँह से निकल गया—आपके पास लो दियासलाई होगी । गज्जू ने फौरन दियासलाई की डिब्बी उसे दे दी ।

शाहदरा स्टेशन पार हो रहा था । सेठ डिब्बी गज्जू को लौटाने लगा तो उसने कह दिया—दस-पॉन्ड सलाईयाँ रख लीजिए साहब, ऐसी क्या बात है !

सेठ ने जवाब दिया—बड़ी कृपा है आपकी ।

गज्जू ने सोचा, चलो बातचीत का सिलसिला तो शुरू हुआ और उसने तत्काल पूछा—आप यहीं उतरेंगे ।

नाक से धुँआँ निकालते और सिर हिलाते हुए चिमन सेठ ने उत्तर दिया—हाँ, यहीं उतरना है ।

जब तक होलडाल ठीक किया, तब तक दिल्ली स्टेशन आ गया । गाड़ी खड़ी हो गई और लोग अपना-अपना असबाब कुलियों पर लदवा कर चल दिए । अब आगे चिमन जाल सेठ था और पीछे था गज्जू ।

चिमन सेठ ने कारवाँ होटल में ठहरना स्वीकार किया, तो गज्जू ने भी कह दिया—चलो हम भी वहीं ठहर जाएँगे । भले आदमी का साथ मिल जाए तो फिर क्या खोबना ? ... और मन में कहने लगा—काम तो बन ही जाएगा ।

इस तरह दोनों एक ही होटल में ठहर गए । संयोग की बात कि दोनों को जो कमरे मिले उनके नम्बर भी सत्रह और अठारह थे । अब चिमन सेठ के साथ गज्जू का मेल-जोल बढ़ गया । दोनों प्रायः साथ-साथ चाय पीते और साथ ही साथ घूमने भी जाते । पहले दिन जब दोनों कमरे से बाहर एक टेबिल पर चाय पी रहे थे, तो चिमन जाल के मुँह से निकल गया—चला तो आया हूँ, पर देखो कुछ सफलता मिल जाए तब है ।

गज्जू ने कह दिया—रामायण में एक चौपाई इस मामले में बड़े काम की है ।

चिमन सेठ ने पूछा—कौन सी ?

गज्जू ने उत्तर दिया—सुनु सिय सत्य
असीस हमारी, पूजिहि मन कामना तुम्हारी ।

चिमन लाल मुस्कराने लगा, बोला—यह
आपने अच्छा बतलाया ।

गज्जू ने अवसर देखकर उत्तर दिया—मैं
सदा भलाई की बात सोचता हूँ । परोपकार में
मेरी जिन्दगी बीती है । हमारे लायक कोई
काम हाँ तो कभी संकोच मत कीजिएगा ।

चिमन सेठ बोले—देखो कोशिश करता हूँ
शाश्वद काम हो ही जाए ।

गज्जू के मुँह में पानी भर आया । मन
ही मन कह उठा मेरा तीर कभी खाली नहीं
गया । मैं पहले ही जान गया था कि माल
गहरा है । कल्पना रंगीन हो चली । ...दुकान
शहर के बाहर से उठाकर बिरहाना रोड पर किसी
शानदार मकान के नीचे खे आनी होगी । मगर
मकान क्या, उसे महल क्यों न कहो ? नौकर-
चाकर बढ़ाने पड़ेंगे । नई और सुन्दर आस्मा-
रियाँ हागी और बैठने के लिए रबड़ की गद्दी
वाली कुर्सियाँ । एक नौकर घर में भी रखना
पड़ेगा । मगर एक नौकर से क्या काम चलेगा ?
कम से कम चार तो हों । ...उसने सेठ से जान-
बूझ कर यह नहीं पूछा कि काम कौन-सा है !
दिन बीता, शाम हुई । दोनों साथ-साथ खाने
बैठे । गज्जू ने पूछा—कहिए, कुछ काम बना ?

चिमन सेठ ने उत्तर दिया—मुझे तो बड़ा
मुश्किल दिखलाई देता है ।

गज्जू ने गम्भीरता के साथ कहा—मैंने जो
चौपाई आपको बतलाई थी, मालूम होता है,
आपने उसका जाप ठीक से किया नहीं । आपको
मालूम नहीं बड़ा सिद्ध मन्त्र है ।

चिमन सेठ ने उत्तर दिया—बात यह हुई
कि माला मेरे पास थी नहीं ।

तो आपने मुझसे माँगी क्यों नहीं ? बड़े
संकोची हैं आप !

बाजार से ले आया हूँ । बस, आज से मैं
जाप शुरू कर दूँगा । इतने में नौ नम्बर के
कमरे में शोरगुल सुनाई पड़ा, तो गज्जू से नहीं
रहा गया । तुरन्त वहाँ जा पहुँचा । थोड़ी देर
बाद लौटकर आया तो चिमन सेठ ने पूछा—
क्यों क्या बात थी ?

गज्जू ने जवाब दिया—कुछ नहीं यों ही
पुलिस तलाशी ले रही थी, आठ नम्बर वाले
कमरे में चोरी हो गई न ।

चिमनलाल घबरा उठा ! उसके मुँह से
निकल गया—अच्छा तो यहाँ चोरी का भी डर
है ।

गज्जू ने उत्तर दिया—डर हो भी तो मेरे
रहते आपको डरने की क्या ज़रूरत है ? मैं
जान पर खेल जाऊँगा । मगर आपका बाल
बाँका न होने दूँगा ।

इतने में चिमन सेठ बोले—तो ऐसा करो
भाई कि अब तुम मेरे ही कमरे में आ जाओ ।
एक से दो फिर भो भले ।

गज्जू पुलकित हो उठा, अपनी प्रसन्नता
को दबाता हुआ बोला—आना ही पड़ेगा मित्र !
जो वचन दिया है उसका पालन न करूँ तो
भगवान को क्या मुँह दिखाऊँगा ।

इस प्रकार गज्जू चिमनलाल के कमरे में
आ गया । कमरा बड़ा था । फट चिमन सेठ के
मन में आया—आदमी वैसे भला मालूम
पड़ता है ।

भीतर से स्वर निकला—हर एक आदमी
भला पैदा होता है । अभी क्या है जब अन्त
तक भला बना रहे, तब है । अभी जो दूध का
घोया बनता है अगर रात में हीरा चम्पत कर
दे और अपना सारा सामान यहीं छोड़कर भाग
खड़ा हो तो ? ...अपनी ही दुष्कल्पना से चिमन
सेठ के रोंगटे खड़े हो गए । चिन्ता के कारण
बड़ी रात तक उसे नींद नहीं आई । कभी
करबटें बदलता, कभी उठकर बैठ जाता ।

गज्जू पिछली रात को सो न पाया था और दिन में भी अपने धन्धे में लगा रहा था, इसलिए उसे जल्दी नींद आ गई। पर यकायक सीन बजे रात को उसकी आँख खुल गई। देखा, चिमन सेठ सो रहे हैं। शरीर भर में उत्साह की लहर दौड़ गई। उठकर बैठ गया। मन में आया—इसकी सोने की आदत भी बस मेरी घरवाली जैसी है। वह शौतान भी इसी तरह सोती है। कमरे के अन्दर कदम रखा नहीं कि भट जाग पड़ती है। अगर कहीं यह सेठ जाग पड़ा तो मेरा मुँह काला हो जाएगा। नहीं, नहीं, अब इस हालत में मैं इस को धोखा न दूँगा। मगर फिर बिरहाना रोड में अपनी शानदार दूकान, नौकर-चाकर का स्वप्न कैसे पूरा होगा ?

गज्जू यह सोच ही रहा था कि चिमन सेठ सोते-सोते बढ़चढ़ाने लगा—चोर, चोर ! पकड़ो, पकड़ो !

गज्जू बोल उठा—सेठ जी, सेठ जी ! बात क्या है ?

चिमन सेठ यकायक उठ बैठा और भट अपने सिरहाने रखा हुआ बेग खोलकर देखने लगा। हीरा एक ढिन्वे के अन्दर रखा हुआ था। देख कर सन्तोष की साँस ली और बोला—चलो आज तो बच गया वैसे सपना बड़ा भयानक था।

गज्जू एक लालच-भरी दृष्टि से बोल उठा—मगर है क्या चीज़, ज़रा मुझ को भी दिखाइए।

चिमन लाल ने हीरा दिखला दिया। गज्जू उसे एकटक देखता रह गया। उसने ऐसा सुन्दर हीरा अब तक न देखा था। तब उसने मन ही मन दृढ़ संकल्प कर लिया कि इस सेठ के साथ चाहे जितने दिन ठहरना पड़े हीरा उड़ाए बिना मानूँगा नहीं।

अब रात होती और चिमन सेठ सो जाता, तब गज्जू बहुत सावधानी के साथ उसका बेग खिसका लेता। चुपके से खोलकर देखता, मगर

उसमें हीरा न पाकर हाथ मलकर रह जाता। मगर चिमन सेठ जब बाज़ार जाने लगता तब हीरा उसी बेग से निकालकर गज्जू को दिखलाते हुए बोल उठता—शहर भर छान मारा, पर इस हीरे का जोड़ कहीं न निकला। अब इसे बेच डालूँगा।

गज्जू हैरान था कि मैं नित्य रात को इस बेग से हीरा निकालने की चेष्टा करता हूँ, पर बहुत ढूँढ़ने पर भी उसका कहीं पता नहीं चलता। और यह सेठ नित्य मुझे हीरा दिखा-दिखा कर ललचाता हुआ बतलाता रहता है कि इतने बड़े नगर में कहीं इसका जोड़ नहीं।

गज्जू उदास होकर चिमन सेठ के मुँह की ओर देखता रहता। किसी तरह उसकी समझ में न आता कि यह मामला क्या है ? आखिर यह सेठ बेग में हीरा रखता कहाँ है ?

अन्त में एक दिन सायंकाल चिमन सेठ ने अपनी ओर से गज्जू को एक दावत दी। जब प्रसन्नता के साथ गज्जू पेट पर हाथ फेरने लगा तब चिमन सेठ ने मुस्कराते-मुस्कराते कह दिया, भगवान की कृपा से आज मेरे हीरे के दाम लग गए और कथन के साथ उसने रिज़र्व बैंक का परचा दिखलाते हुए कहा—खर्च भर के लिए रुपया रखकर शेष यह देखो १५ हजार रुपया अपने बम्बई वाले बैंक के खाते में जमा करा आया हूँ।

चिमन सेठ का इतना कहना था कि गज्जू मत्था ठोकता हुआ रो पड़ा। सिसकियाँ लेता हुआ वह बोला—हाथ मैं तो मिट गया, मेरा तो सर्वस्व चला गया ! इसी हीरे के लिए दस दिन से आपके साथ इस होटल में ठहरा हूँ। इसी के लिए इतना लम्बा खर्चा भी मैंने सहन किया। मगर हीरा फिर भी मेरे हाथ न लगा।

गज्जू की इस बात पर चिमन सेठ हँस पड़े, बोले—मगर हीरा तो तुम्हारे पास था, (शेष पृष्ठ ४३ पर)

बुजुर्गी का बोझ

कन्हैयालाल कपूर

जो आ के न जाए वह बुढ़ापा देखा
जो जा के न आए वह जवानी देखी ।

बचपन में जब यह शेर पहली बार सुना था, तो हँसकर कहा था : भला इसमें अक्रसोस की क्या बात है कि बुढ़ापा एक बार आने के बाद फिर कभी नहीं जाता । बुढ़ापा तो बुजुर्गी की निशानी है और बुजुर्गी के फ़ायदे हर शख्स जानता है । यही तो वह उमर का हिस्सा होता है, जब इंसान की कुछ क़द्र होती है, यानी जब डॉटने और सख्त-सुस्त कहने वाला कोई नहीं होता और जब कोई ऐसी बात भी की जाए जिसका कुछ मतलब न हो तो सुनने वाले समझ लेते हैं कि बात तो पते की होगी, हमारी ही समझ में नहीं आई । घर में जब बुजुर्गों को देखते थे, तो उनकी बुजुर्गी पर रश्क आता था । सिवाय खौंसने और घूरने के इन्हें कोई काम नहीं और रोब इतना कि हर शख्स उनके सामने चुप रहने ही में खैरियत समझता था । यूँ ही आपने कोई बात की और बुजुर्ग ने खौंसकर डाँटा—चुप रहो ! छोटा मुँह बड़ी बात, मौका-महल देखकर बात किया करो ।... इस वक्त यही महसूस होता था कि जब बुजुर्ग सख़ामत हैं बात करने का अभी मौका-महल सुयस्सर नहीं होगा । यकीन जानिए उस वक्त चोरी-छिपे दुआ किया करते थे कि वह कौनसा मुबारिक दिन होगा, जब हमारा शुमार बुजुर्गों में होगा । जब हम भले चंगे नौजवानों को डाँटकर कहा करेंगे—“अज़ीज़ो, हमने बाल धूप में सफेद नहीं किए,

तजुर्बा बड़ी चीज़ है, बुजुर्गों को मुँह चिढ़ाओगे, तो हमेशा मुँह की खाओगे ।”

फिर एक दिन ऐसा आया कि हमारे बाल भी सफेद हो गए और हमें भी लोग बुजुर्ग समझने लगे । पाँच साल बुजुर्ग रहने के बाद मालूम हुआ कि बुजुर्गी से बड़ी मुसीबत इस दुनिया में हो ही नहीं सकती । बुजुर्ग होने का सब से बड़ा नुकसान यह नहीं कि आदमी चने नहीं चबा सकता, गण्डेरियाँ नहीं चूस सकता या बारीक हल्क़ में लिखी हुई किताब नहीं पढ़ सकता, बल्कि वह किसी मनोरंजन यानी तफ़रीह में शरीक नहीं हो सकता—चूँकि वह बुजुर्ग है । इसलिए उसे चाहिए कि वह साधुओं या योगियों की तरह दुनिया से अलग-थलग एक खास जगह जैसे ड्योढ़ी, या घर के सब से छोटे कमरे में कैदियों की सी ज़िन्दगी बसर करे । जवानी में चाहे उसे किसी किस्म का शौक रहा हो, बुजुर्गी में उस शौक की तरफ़ आँख उठाकर न देखे ; नहीं तो लोग यही कहेंगे कि सठिया गया है, दिमाग में खराबी है, सींग कटाकर बड़बुँ में शामिल होना चाहता है । अब हमारी तरफ़ ही देखिए कि जवानी में गाना सुनने या नाच देखने का इतना शौक था कि ज्यों ही पता चलता था कि फ़र्ज़ जगह कोई गाने-नाचने का प्रोग्राम है, सब काम छोड़ कर वहाँ पहुँच जाते थे । आर्ट के मुताबिक़ हमारा वही नज़रिया था जिसे भटुंहरि ने इन लफ़्ज़ों में बयान किया है कि जो शख्स संगीत और

कला में दिलचस्पी नहीं लेता, वह साक्षात् पशु है—सिर्फ उसके दुम और सींग नहीं हैं। अब यह हाल है कि किसी ऐसी मजलिस में जाने की हिम्मत नहीं पड़ती। अभी पिछले महीने बम्बई की मशहूर गाने और नाचने वाली—भला सा नाम था उसका—हमारे शहर में आई थी। नौजवानों की खुशी का यह हाल था जैसे उन्हें वह सब कुछ मिल गया हो जिसकी वह तमन्ना किया करते थे और अपनी यह हालत कि शायर के इस शेर को बार-बार पढ़ते थे :

ग़ज़ल उसने छेड़ी, मुझे साज़ देना

ज़रा उम्मे रफ़्ता की आवाज़ देना।

शेर पढ़ते थे, और दौत पीस कर रह जाते थे। हलना उम्दा गाना, ऐसा बढ़िया नाच और हम वहाँ इसलिए नहीं जा सकते कि हम बुजुर्ग हैं, कोई देख लेगा तो क्या कहेगा? खेर बाकी लोग तो बाद में कुछ कहेंगे, पहले भागवान ही क्या कहेंगे और समझेंगी। यही ना कि दिमाग़ खराब हो गया है तुम्हारा, अब तो पिछला पहर है, अब तो कोई अक्ल की बात कर लिया करो। ऊँह नाच देखेंगे! मुँह में दौत न पेट में आँत। कबर में पाँव लटकाए बैठे हैं और चोचलों से जी अब तक नहीं भरा। कोई ज्ञान-ध्यान की बात करो। खोक तो बिगड़ा है, परलोक ही सँवार लो। छः दिनों से मस्तिष्क में क्या हो रही है, वहाँ तो गए नहीं और नाच देखने जाएँगे।

जीजिए बुजुर्गों का यही काम है कि घर में बैठ कर माला जपा करें या ज़्यादा से ज़्यादा मन्दिर तक हो जाएँ। मनोरंजन के दरवाज़े उन पर बन्द कर दिए गए हैं, इसलिए भूल कर भी मनोरंजन का खयाल दिल में न जाएँ। नसीज यह कि दिल ही दिल में तिलमिला रहे हैं और सोच रहे हैं कि कहीं से जादू की टोपी मिल जाए, जिसे पहन कर खुद नज़र न आएँ लेकिन दूसरों

को देख सकें, तो वही पहन कर गाना सुनें और नाच देख आएँ। लेकिन अफ़सोस! इस ज़माने में जादू की टोपी कहाँ?

जो लोग हमें जानते हैं इस बात के गवाह हैं कि वसन्त के मौसम में हमें पतंग उड़ाने का कितना शौक था, वसन्त के त्योहार से कई दिन पहले हम किस तरह पतंगबाज़ी की मशक किया करते थे। सिर्फ़ एक खयाल जन्म की तरह दिलो-दिमाग़ पर सवार रहता था कि हर पतंगबाज़ को वह एक शिस्त दें कि उमर भर याद रखें कि किसी उस्ताद से पाज़ा पढ़ा था। अब वसन्त आती और गुज़र जाती है, पतंग उड़ाने को जी तरसता है लेकिन पतंग उड़ाएँ तो किस तरह? एक बार किसी अज़ीज़ को इस फ़न के दाँओ-पेच सिखाने के लिए यूँ ही पतंग को हाथ लगा बैठे थे, उसी वक़्त गलों में से गुज़रने वाले आवाज़ें कसने लगे—अरे इन बुजुर्गों की तरफ़ देखो, इस उमर में पतंग उड़ा रहे हैं। अब भला कोई उनसे पूछे कि पतंग उड़ाने का उमर से क्या ताल्लुक है और जब पतंग को कोई एतराज़ नहीं, क्योंकि वह तो तजुबेकार हाथों में है, तो उन्हें ब्राह्मब्राह्म क्यों कलक हो रहा है?

होली के दिनों में क्या-क्या धूम मचाते थे, यह अब महज़ क्वाब-सा मालूम होता है—फ़िज़ा में अभीर और गुलाब उड़ रहा है, कपड़े हैं कि रंग-बिरंगे हो रहे हैं। रंग से भरी पिचकारियाँ, एक-दूसरे का ताक़ुब, हँसी-मज़ाक, कहकहे—रंग डाल रहे हैं, डलवा रहे हैं; बग़लगीर हो होकर मुहब्बत का इज़हार कर रहे हैं। रंगीन मौसम, रंगीन फ़िज़ाएँ! लेकिन यह सब बातें जवानी के साथ ही ख़त्म हो गईं। अब क्या मजाज़ जो होली के दिनों में घर से बाहर कदम भी रखें। मिट्टी का बुल बने हुए नौजवानों को रँगरखियाँ मनाते देख रहे हैं। कई बार जी चाहता कि उठ कर इनमें शामिल हो जाएँ, ज़ोर से नारा लगाएँ—आज रंग है, देखना कोई बच कर जाने

न पाए। लेकिन फिर खयाल आता है, बुजुर्गों को यह बात शोभा नहीं देती। इसलिए अरमानों का गला बोंट दो और, हज़ार जी चाहे, होली की रंगीनिबों से लुफ्त अन्दोज़ हो आराम से बैठे रहो, चरना देखने वाले पंजे भाड़ कर पीछे पड़ जाएंगे। सितम यह कि कोई यह नहीं सोचता कि बुजुर्ग भी आखिर इन्सान होते हैं, बेकार बैठे-बैठे वह भी संग आ जाते हैं, उन्हें भी तक्ररीह की उतनी ही ज़रूरत होती है जितनी किसी और को—इसलिए उन्हें कभी मुआफ़ कर देना चाहिए। दो साल हुए एक खुशी के मौके पर घर वालों ने मोमाम बनाया कि दरिया पर पिकनिक पार्टी मनाई जाए। परमात्मा जानता है कि जवानी में कितनी ऐसी पार्टियाँ मनाईं जहाँ खूब खुल कर हँसे, कन्वाज़ियाँ गाईं, रँभा सँभा डांस नाचे लेकिन अबकी बार न जाने क्या खयाल आया कि इस पार्टी में जाने से इन्कार कर दिया। दरअसल बात यह थी कि बुजुर्गी इस पार्टी में शामिल होने की इजाज़त न देती थी। रह-रह कर खयाल आता था कि यह नौजवान लड़कें और लड़कियाँ हमारी मौजूदगी में कुछ लुफ़्त न उठा सकेंगे, चाहे हमारे मुँह पर नहीं कहेंगे लेकिन दिल ही दिल में ज़रूर कुढ़ते रहेंगे कि यह बुड्ढा कहाँ से टपक पड़ा—अब न कोई खुल कर हँसी-मज़ाक को बात हो सकती है न ग़ज़बें गाई जा सकती हैं और न गीत, थानी सारी पिकनिक का मज़ा हो किरकिरा हो गया। बस यह समझते हुए कि हमारी शामिलियत सब की आँखों में झटकती रहेगी हम घर पर रहे। नौजवानों ने दिल ही दिल में परमात्मा का शुक्रिया किया कि हम उनके कहने में आकर उनके साथ नहीं चल पड़े। बुजुर्गी का तकाज़ा यही था कि जिन लोगों के खेलने-कूदने के दिन हैं, उन्हें खेलने-कूदने दिया जाए, चरना वह यही ताना देंगे कि ज्यों-ज्यों उमर बढ़ रही है हिंस जवान होती जा रही है।

यही हाल बाकी तक्ररीहों का है। ताश और शतरंज से उमर भर वास्ता रहा। क्या मजाल है शतरंज की बाज़ी हो रही हो और हम सब कुछ भूल कर उसमें महब न हो जाएँ, लेकिन अब गली-मुहल्ला से गुज़रते हुए जब किसी को ताश या शतरंज खेलते देखते हैं तो आँख बचा कर निकल जाते हैं—इस खयाल से कि कहीं इन खेलों से जो मुहब्बत रही है वह जोश में आ गई तो हम यहाँ से जाने के नहीं और लोग जब हमें यहाँ बैठे हुए देखेंगे तो सरगोशियाँ शुरू हो जाएँगी कि बासी कढ़ी में उबाल आया है या शायद 'बूढ़ी घोड़ी और लाल लगाम' वाली फबती कस दी जाएगी।

और तो और कई बार नहाते वक्त गुसल-खाने में जी चाहता है कि कोई फबकती हुई ठुमरी या चलता हुआ दादरा जाएँ, और नहीं तो किसी भूले-बिसरे फिल्मी गीत की ही याद ताज़ा करें। लेकिन यह सोचते हुए कि किसी ने सुन लिया तो दौताँ में उँगलियाँ दबा लेगा, चुप रहते हैं। इस उमर में भी हज़ारों रूमानी अशार याद हैं, जिनमें गुनगुनाने को बेसाख्ता जी चाहता है, लेकिन यह डर हमेशा हब्बा बनकर डराता है कि लोग कहेंगे कि यह बुजुर्ग आखिरी उमर में रोमांटिक होते जा रहे हैं। ऐसे-ऐसे शेर पढ़ते हैं कि नौजवान सुनें तो कान पकड़ लें। चंद दिन हुए एक मजलिस में दादा बहलवी का यह रंगीन शेर पढ़ने को जी चाहा। लेकिन फिर कुछ सोचकर चुप रह गए। वह शेर था :

दर्द से वाक्रिफ़ न थे, शम से शनासाई न थी
वो भी क्या दिन थे, तबीयत जब कहीं आई न थी।

आप ही कहेंगे कि अगर हम यह शेर पढ़ देते तो लोग किस तरह इस शेर को ले उड़ते... वाह साहब, वाह ! बाल सफेद हो गए लेकिन तबीयत तरहदार पाई है। रस्सी जल गई लेकिन बल नहीं गया ! नौजवानों को भी

मात कर दिया !...बाह साहब, बुढ़ापे में बहुत दूर की सूझी !...क्या बात है ? तबीयत जब कहीं आई न थी !...वगैरह-वगैरह । एक शाम तो अजीब वाक्या हुआ, शहर के बेहतरीन सिनेमा हाल में शेक्सपीयर के मशहूर द्रामे, 'रोमियो और जूलियट' की फिल्म दिखाई जा रही थी । लाल कोशिश करने के बावजूद हमसे सन्न न हो सका । चुनांचे । नौजवानों की आँख बचाते हुए सिनेमा हाल में दाखिल हो गए । अभी फिल्म के शुरू होने में कुछ देर थी, अब देखते क्या हैं कि हर नौजवान हमारी तरफ धूर-धूर कर देख रहा है, जैसे हमसे किसी नाकाबिले मुआफी जुर्म या पाप का इरतिकाब हो गया हो । पीछे से आवाज़ आई 'बाल सफेद हो गए लेकिन दमखम अभी बाकी है ।'...हमने यह सुना और जल-भुन कर रह गए इतने में किसी और ने कहा—'अजी अभी उमर ही क्या है, अभी तो दूध के दाँत भी नहीं टूटे ।' ...दाँतों का जिक्र सुनते ही हमें अपने तमाम मसनूई दाँत याद आ गए । परमात्मा जाने अभी और क्या कुछ सुनते कि फिल्म शुरू हो गई । इंटरवल में जब रोशनी हुई तो तीन-चार नौजवान, जिन्हें हम जानते थे, हमारे आसपास बैठे हुए पाए गए । वे हैरान होकर पूछने लगे, "आप कैसे यहाँ ?" हमने शर्मिन्दा-सा हो कर जवाब दिया, "यूँ ही बैठे-बैठे तबीयत धबरा गई थी, यहाँ चला आया ।" वे हमें बताने लगे, "कहिए जूलियट पसन्द आई ?" जरूर पसन्द आई होगी । दर-असल ऐसी फिल्में आप जैसे बुजुर्गों के लिए बनाई जाती हैं, हम झोकरे तो यूँ ही आ धमकते

हैं ।" वह दिन और आज का दिन हम कभी फिल्म देखने नहीं गए ! तो साहब अब पता चलता है कि बुजुर्गों किस भाव पकती है । हमारे लयाल में तो कैद महज बुजुर्गों का दूसरा नाम है । चूँकि आप बुजुर्ग हैं, इसलिए आप रेसकोर्स में नहीं जा सकते । कितना ही जी चाहे, किसी ऐसी महफ़िल में शरकत नहीं कर सकते जहाँ हँसी मज़ाक की बातें हो रही हों । बुजुर्गों का एहसास साए की तरह आपके साथ लगा रहता है । औरत, शराब, हुस्न का जिक्र अगर आप गवती से कहीं कर बैठें तो तूफान बरपा हो जाता है । लोग आप को लहरी लाला और रसिक बाबू के खिताबों से नवाज़ने लगते हैं । यानी अजीब बेकसी का आलम होता है बुजुर्गों में ! चाट आप नहीं खा सकते, क्योंकि बुजुर्ग हैं; शेर आप नहीं गुनगुना सकते, क्योंकि आपके बाल सफेद हो गए हैं; सरकस या थियेटर देखने आप इसलिए नहीं जा सकते कि ये नौजवानों के लिए हैं । सिर्फ एक बात आप कर सकते हैं और वह है कि जोश मज़ीहाबादी की मशहूर नज़्म 'मुझे बेसाख्ता अपनी जवानी याद आती है' बार-बार पढ़कर अपना दिल खुश कर लिया करें । लीजिए हम भी उसी नज़्म का एक बंद पढ़कर जवानी की यादों को ताज़ा करते हैं :

मेरे ख़लवत कदों में काँपने लगते हैं जब साए हवा आती है सुरक्षाए हुए लमहों की महकाए, चमक उठते हैं जितने चाँद थे, यादों में गहनाए तसब्बुर में निगार आते हैं जब ख़ुशों को बिखराए तमन्ना जब अँधेरे में बुझी बाती जलाती है मुझे बेसाख्ता अपनी जवानी याद आती है ।

—बालन्धर से प्रसारित



‘अज्ञेय’ और इलाचन्द्र जोशी

शुक्रदेवप्रसाद तिवारी

प्रेमचन्दोत्तर कालीन विशिष्ट औपन्यासिकों के सामाजिक चित्रण की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के पूर्व हमें आलोच्य काल के जाज्वल्यमान प्रश्न को भी समझ लेना है, जो पूछता है— क्या लोगों की चेतना उनकी अवस्था का नियमन करती है अथवा उनकी सामाजिक अवस्था उनकी चेतना की गति-विधि पर अंकुश रखती है ? हमारा वातावरण अपने समस्त शिबत्व और अशिबत्व को लेकर हमारी चेतना प्रक्रिया के स्वरूपों का निर्माण करता है, यह सत्य मात्र होने पर हमारा पर्यालोचन साहित्य के उस आधार को पकड़ लेता है जो साहित्यकार की स्वतन्त्र सत्ता को ढील कर देता है। और यदि हम यह प्रश्न करें कि समाज व्यक्ति के स्वप्न की सजीव अनुकृति है और उसे होना ही चाहिए, तब साहित्यकार उस भूमि को ही झोड़ देता है जिस पर वह खड़ा है। जब हम साहित्य से साहित्यकार के व्यक्तित्व प्रकाशन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने लगते हैं, तब उसकी प्रतिष्ठाया ‘अहं’ के रूप में दीख पड़ती है और साहित्य समष्टि-चेतना को प्रतिबिम्बित न कर व्यक्ति की एक ऐसी आकृति खड़ी कर देता है जो सामाजिक तो नहीं होती, फिर भी कभी सामाजिक हो सकने का आभास देने लगती है। जब हम साहित्य में समाज को उयों का त्यों

उतारने का आग्रह करने लगते हैं तब साहित्य ‘जड़’ हो जाता है, क्योंकि वह हम में उस सौन्दर्य बोध को जागृत नहीं कर पाता जिसकी अनुभूति के लिए हम उसका आश्रय लेते हैं। एक ऐसी साहित्याभिव्यक्ति और होती है जिसमें वह समाज की चेतना से सर्वथा दूर हो जाता है।

इस कोटि के साहित्यकारों का विरवास होता है कि हमें “तुष्टि अथवा अनुभव के लिए जीवन के सन्निकट जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जीवन तो अनेक परिस्थितियों वश संकीर्ण बना रहता है। कला की मनोवृत्ति एक ही वस्तु में तुष्ट हो सकती है और वह है रूप विधान तथा आत्मा का मनोरम सम्मिश्रण।” यह आस्कर वाइल्ड के विचारों में पलायनवादी का दृष्टिकोण है। प्रेमचन्दोत्तर कालीन उपन्यासों में हम इन सभी प्रवृत्तियों के दर्शन करते हैं। प्रेमचन्द के समय सौन्दर्यवादी आस्कर वाइल्ड; यथार्थवादी बाज़ज़क, फ्लाबेयर, झूगो; प्रकृतिवादी ज़ोला और समाजवादी तथा मानववादी टॉल्स्टाय, दास्तोवस्की आदि की मान्यताएँ प्रचलित थीं। उन्होंने अपनी युग चेतना से स्फूर्ति लेकर उसी में अपने भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा कर यथार्थ का वह रूप प्रस्तुत किया जिसमें आधुनिक औपन्यासिक कला के मुख्य उपादानों की रचा हो सके। उन्हीं के शब्दों में



‘अज्ञेय’

उन्होंने 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' को अपनाया और अपने पात्रों को जीवन संघर्ष की भट्टी में तपा-गला कर मर्यादित सीमा ही में जिन्दा रहने दिया। उनके मन ने परिस्थितियों से विद्रोह तो किया, पर उन परिस्थितियों को समाप्त करने के लिए बद्धपरिकर होकर, क्रान्ति नहीं, आत्म सुधार और आत्मविकास में सन्तोष की साँस ली। प्रेमचन्द को हिन्दी उपन्यास परम्परा से बहुत नहीं मिला। हरिश्चन्द्र काल में ही उपन्यासों का आरम्भ हुआ। तत्कालीन औपन्यासिकों को विरासत में वाण की कादम्बरी के अतिरिक्त विशेष कुछ प्राप्त नहीं था। अतएव 'श्यामास्वप्न' जैसी एकाध कृति से उसका ज़खीरा भी शेष हो गया। उसने अधिक से अधिक गद्य को एक काव्यात्मक शैली अवश्य प्रदान की। अतएव उन्हें बंगला और अंग्रेज़ी के उपन्यास साहित्य की ओर ही ताकना-झाँकना पड़ा। हिन्दी पाठकों में 'कला' की सुषमता को पकड़ने की क्षमता भी नहीं पैदा हुई थी। अतः उन्होंने उसे बढ़लाने के साधन अधिक जुटाए, उनमें घटनाओं को रोचक बनाने की प्रवृत्ति इसीलिए अधिक दिखलाई दी। समाज को लक्ष्य कर भी जो उपन्यास लिखे गए उनमें भी यही दृष्टिकोण प्रधान रहा, पर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस समय भी औपन्यासिकों की दृष्टि युग चेतना के प्रति सजग थी। विविध क्षेत्रों में समाज सुधार, नारी की विभिन्न समस्याओं आदि से वे बेखबर न थे। हरिश्चन्द्र युग वास्तव में 'यथार्थवादी' युग कहा जा सकता है। उसने अपने उत्तर-कालीन युगों की निश्चय भविष्य घोषणा की है और यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य अपनी पिछली परम्पराओं की शृंखला होता है। प्रेमचन्द ने जिस यथार्थवाद के साथ आदर्श का दामन पकड़ रखा था वह उनके पूर्व औपन्यासिकों की ही देन है। देवकीनन्दन खत्री से

नागार्जुन तक जो धारा प्रवाहित हुई है, रोमांस और अस्तित्वार्थवाद (सुररियलिज़्म) की लम्बी यात्रा है।

जिन औपन्यासिकों के समाज रूप पर हम बोलना चाहते हैं उनमें मनोविज्ञान की गुथियों के कई जाल दीख पड़ते हैं, क्योंकि मनो-विज्ञान मनुष्य के विचारों की और उसकी प्रकृति की परीक्षा मानस-आधारों पर करता है और उनका स्रोत मनुष्य की सेक्स भावना में खो जाता है जो उसके अचेतन में रहती है। मन के विश्लेषण में मनुष्य की आदिम पशु प्रकृतियों का अन्वेषण होता है। मनोविज्ञान के निष्कर्ष कितने ही दोषपूर्ण क्यों न हों, उनसे हमारी ज्ञान की सीमा बढ़ी है—कम से कम हममें उन निष्कर्षों की परीक्षा करने की दृष्टि तो निःसन्देह जागृत हुई है। मन बाहरी परिस्थितियों को ग्रहण करता है और उनके अनुरूप आचरण करता है। मन के बाह्य और आभ्यन्तरिक संघर्ष को सहन कर उन्हें फेलने की प्रवृत्ति 'अज्ञेय' में विशेष दिखलाई देती है। इलाचन्द्र के उपन्यासों में मन के चेतन और अपचेतन स्तरों के उद्घाटन के साथ बाह्य घटनाओं की अनिवार्यता स्पष्ट है और स्पष्ट है उनमें आदर्श स्थापना तथा नैतिकता की रक्षा।

'अज्ञेय' ने उच्च मध्यवर्गीय अहं का अधिक प्रतिपादन किया है। समाज के मान्य सम्बन्धों से पृथक् होकर ही 'अज्ञेय' के औपन्यासिक ने अपने 'अहं' को पुर-असर करने का प्रयत्न किया है। 'नारी' उसके लिए एक खिलौना बन गई है। मानो वह अपने युगीन समाज में रहकर भी उसकी पर्वाह नहीं करना चाहती, पुरुष अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ओढ़ना ही नहीं चाहता। शेखर क्या चाहता है? मुक्ति! किससे? घरबार के बन्धनों से! क्यों? वह सोचता है, जीवन ऐसा होना चाहिए... शुभ स्वच्छ, संगीतपूर्ण अरुद्ध, निरन्तर सचेष्ट और

प्रगतिशील । इसीलिए शेखर सरस्वती को, जिसे समाज उसकी बहन कहता है, केवल स्त्री मानना चाहता है । उसकी सहज क्रीड़ा से उसका ‘सेक्स’ जाग उठता है । यही आदिम पशु वृत्ति है जिसका वह समर्थन करना चाहता है । ‘नदी के द्वीप’ में ‘नारी’ को गृहस्थ जीवन में बाँधने का आग्रह है । एक पात्र कहता है कि जब तक कोई विशिष्ट मनोवैज्ञानिक ‘केस’ न हो, विवाह सहज धर्म है और व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभिव्यक्ति की स्वाभाविक सीढ़ी । पर क्या इस सिद्धान्त की भी उससे रक्षा हो सकती है ? क्या उसके स्त्री-पुरुष पात्र समाज की इस मर्यादा को मानकर आचरण करते हैं ? ‘शक्ति’ अपने पति की आँखों के सामने अन्य पुरुष के प्रेम-पाश में बाँध जाती है । उसके लिए ‘वह’ केवल ‘रस्मी पति’ रह जाते हैं । वह भीतर ही—अपने भाई के मज्जागत प्रेम के लिए तड़प उठती है और उसके अधर उसके चुम्बन मधु से बार-बार मधुर बनना चाहते हैं । यह नारी की बोधण सामाजिक समस्या है । पातिव्रत क्या है ? क्या हर परिस्थिति में—मनसा वाचा कर्मणा—उस समाज में ‘पति’ कहलाने वाले प्राणी की अनुगामिनी रहना चाहिए ? क्या उसे ‘सपने आन पुरुष जग नाहीं’ में भूले रहना चाहिए ? दूसरा प्रश्न है—क्या पुरुष को विवाहिता नारी से प्रेम करने का अधिकार नहीं है ? क्या मन पर इस प्रकार का सामाजिक बन्धन रखा जा सकता है ? अज्ञेय के लिए पातिव्रत्य, नारी की दासता है । वह उसे प्रकृत धर्म नहीं मानते । पाप और पुण्य की समस्या भी सामने आती है । एक रात ‘पर पुरुष’ के घर काट देना क्या नारी के लिए ‘पाप’ है ? दूसरे शब्दों में क्या नारी के लिए पर पुरुष को शरीर दान का नाम ही पाप है ? इसी के साथ साथ एक यह भी प्रश्न है कि क्या शादी धर्म है, शास्त्रोक्त और स्वाभाविक भी.....?

नारी पुरुष के साथ चाहे जितना खिलवाड़ करे उसे अन्त में ‘नदी के द्वीप’ की रेखा के समान अपने को एक पुरुष के साथ बाँध कर अपने मानसिक द्वन्द्वों का अन्त करना ही पड़ता है । रेखा ने अपने प्रेमी भुवन को पत्र लिखा—“आज अभी थोड़ी देर पहले मैं रजिस्टर में पहले-पहल ‘रेखा रमेशचन्द्र’ नाम से हस्ताक्षर करके आई हूँ । उसके बाद न जाने क्यों भीतर कुछ कहता है कि मेरा पहला काम होना चाहिए तुम्हें सूचना देना, तुम्हें पत्र लिखना । भुवन, कभी सौ वर्षों में भी मेरी कहपना में यह बात न आती कि अन्त में मेरा ठिकाना यह होगा.....इस घाट आकर मैं किनारे लगूँगी.....कैसा दुनिवार, बेरोक, विवशकारी है यह प्रवाह !” विवाह से नारी का भीतरी संघर्ष समाप्त हो ही जाता है, यह बात तो नहीं है—विशेषकर उस नारी का जिसके मन में पुरुषों के मज्जागत प्रेम की ग्रंथियाँ होती हैं । पर यह ठीक है कि बाह्य उथल-पुथल का नियन्त्रण हो जाता है, भ्रमरों की भीड़ छूट जाती है, मधु दान का व्यापार अथवा अभिनय समाप्त हो जाता है ।

मानसिक ग्रंथियों के कारण जब स्त्री अपने विवाहित पुरुष को पूर्ण समर्पण नहीं दे पाती और परिणामस्वरूप वह उसके द्वारा ‘शेखर’ की ‘शक्ति’ के समान परित्यक्ता हो जाती है, तब उसे क्या करना चाहिए ? यह भी एक सामाजिक प्रश्न है, जो आज के समाज के सामने प्रस्तुत है । जहाँ स्त्री-पुरुष का स्व-चक्रन्द मिलन होता है, वहाँ ऐसी समस्याओं का उठना स्वाभाविक है । इसका हल यही है जैसा ‘शेखर’ ने स्वीकार किया है कि समाज की रूढ़िगत मान्यताओं की उपेक्षा कर उस ‘प्रेमी’ को पति-परित्यक्ता प्रेयसी को अपने यहाँ आश्रय देना चाहिए, पर क्या शेखर का यह हल हर परिस्थिति में लागू हो सकता है ? यह शेखर की समस्या का हल हो सकता है ।

ऐसी भी परिस्थिति खड़ी हो सकती है जब असामाजिक प्रेम करने वाले स्त्री-पुरुष दोनों ही विवाहित हों। ऐसी स्थिति में स्त्री पति-परित्यक्ता नारी को वह पुरुष अपने घर में आश्रय दे सकता है ? और क्या इससे इस प्रकार की नारी को उल्लंघन का अन्त हो सकता है ?

इलाचन्द्र जोशी, समाज में जो नए-नए स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रश्न खड़े होते हैं, उनकी जब मन के दबे हुए संस्कारों में पाते हैं। 'प्रेत और छाया' की भूमिका में वह लिखते हैं—“आदि काल से लेकर आज तक के विकास काल की सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं उनमें समयानुक्रम से संस्कार परिशोधन होते चले गए, पर जिन प्रारम्भिक वृत्तियों का परिशोधन हुआ वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना लोक में संचित होती गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी प्रश्न है। परिशोधन हुआ और इस नए परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतललोक में छिप कर अज्ञात ही रूप में संचित होती गईं। यह क्रम आज तक बराबर प्रवर्तित होता चला गया है। इस अपरिचित दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अग्राध अज्ञात चेतना लोक में दबे और मरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने सफेद मन में अवश्य सफेदपोशी कर ली है, पर जिस पद पर वह की गई है वह इतना झोला है कि ज़रा-ज़रा सी बात से वह फट जाता

है और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से प्रस्फुटित होने लगती हैं। इन मूल पशु प्रवृत्तियों को जितने ही और से सभ्य मनुष्य नीचे की दुबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर को उछाल मारने लगती हैं।”

उनके 'संन्यासी' में एक पुरुष दो स्त्रियों से प्रेम करता है पर भीतर सोए हुए सन्देह के संस्कार के कारण वह न उन्हें सन्तुष्ट कर सकता है और न स्वयं को। समाज द्वारा अमान्य अवैध गर्भाधान की भी एक समस्या है। 'पदों की रानी' में निरंजना के सामने यही प्रश्न है। इन्द्रमोहन जो विवाहित है, निरंजना का प्रथम बार कौमार्य भंग करता है और परिणामस्वरूप वह गर्भवती



इलाचन्द्र जोशी

हो जाती है। इन्द्रमोहन के आत्महत्या कर लेने के पश्चात गर्भ को विवाह द्वारा वैधता प्राप्त होना सम्भव नहीं था। निरंजना के सामने विकट प्रश्न था। वह अपने 'गुरु' के निकट जाती है और उसे सलाह मिलती है—“इस प्रथम और अन्तिम प्रेम मिलन के फल-स्वरूप मातृत्व की जो स्थिति तुमने पाई है उस ग्लानि का कारण न समझ गौरव के रूप में ग्रहण करना तुम्हारा कर्तव्य है।”

जोशी जी के 'संन्यासी,' 'पदों की रानी' और 'प्रेत और छाया' में एक पुरुष के एक से अधिक स्त्रियों से प्रेम करने की समस्या है। चित्रपटों में नारी के प्रवेश से भी सामाजिक गुत्थियाँ पैदा हो गई हैं। पूँजीपति नारी के रूप का व्यवसाय करने लगे हैं। इस व्यवसाय में न जाने कितनी नारियों का सतीत्व खतरे में

‘अज्ञेय’ और इलाचन्द्र जोशी

पड़ता रहता है, नष्ट होता रहता है। जोशी जी ने ‘सुबह के भूले’ में गिरिजा को गिरने नहीं दिया और इसे असत्य सिद्ध कर दिया कि ‘काजर की कोठरी में कितनी हूँ सयानो जाय पै एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।’

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में नारी की जिन समस्याओं का प्राधान्य है वे हैं—

१. क्या विवाहिता नारी पर-पुरुष से प्रेम कर सकती है ?

२. क्या कुमारी नारी को विवाहित पुरुष से प्रेम करना चाहिए ?

३. क्या पुरुष को कुमारी नारी से प्रेम

करना चाहिए ?

४. क्या पुरुष को विवाहिता नारी से प्रेम करना चाहिए ?

५. अवैध प्रेम सम्बन्ध से उत्पन्न शिशु की समाज में क्या स्थिति होनी चाहिए ?

६. स्त्री-पुरुषों का स्वच्छन्द प्रेम-जीवन क्या समाज को मान्य होना चाहिए ?

क्या समाज-स्वास्थ्य के लिए इस पर प्रतिबन्ध आवश्यक है ? ये ही प्रश्न हैं जिन्हें विभिन्न विद्याओं ‘‘शिक्षणों द्वारा ‘अज्ञेय’ और इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में ठठाने का उपक्रम किया है।

—नागपुर से प्रसारित

समर्पण—[पृष्ठ ३४ का शेषार्थ]

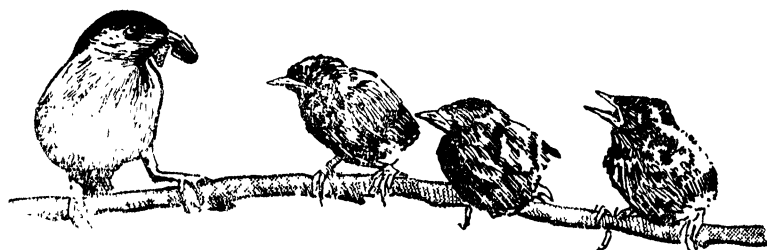
तुम्हारे इसी भोले में जिसमें तुम साबुन, तेल, कंवा, शीशा, हजामत का सेट आदि रखते हो। रात को जब तुम मेरा बेग खोलकर देखते थे तब मैं जागता हुआ मन ही मन हँसता था और जब तुम सवेरे नित्यक्रिया के लिए उठकर चल देते थे तब इतमीनान से मैं उसको तुम्हारे इस भोले से निकाल लिया करता था। हीरा तुम्हारे पास था, मगर तुम उसे जान न सके ; जैसे भगवान की सत्ता हमारे भीतर सदा

विराजमान रहती है, पर हम उसे भूले रहते हैं।

अब गज्जू की आँखें खुल गईं। इतना मर्माहत वह जीवन में कभी नहीं हुआ था। उसने आँसू पाँख ढाके और हर्ष से गद्गद् होकर कह दिया—हीरा मैंने खोया नहीं पा लिया है।

वह फिर घर लौटकर नहीं गया। सीधे कोतवाली जाकर उसने कह दिया—मुझे कैद कर लो, मैं अपराधी हूँ। आठ नम्बर कमरे का माल यह है, आठ नम्बर कमरे का माल यह लो।

—दिल्ली से प्रसारित



Sh...

यथार्थ और उपयोगिता

डा० वी० एस० नर्वेणे

..... क्या सौन्दर्य और उपयोग को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग किया जा सकता है ?
..... उन आँखों को क्या तुम सुन्दर कहोगे जो देख न सकें ? धिरन की टाँगों में यदि शक्ति और चापल्य न हो तो क्या कोई कवि उनकी प्रशंसा करेगा ?.....

मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र में मापदंड स्थिर करना और आयाम निर्धारित करना उतना कठिन नहीं जितना कला के क्षेत्र में। इसीलिए कला दर्शन की ज़मीन पर 'वादों' के वृक्ष बहुत जल्द पनपते हैं। आदर्शवाद और वास्तववाद, उपयोगितावाद और रहस्यवाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद इन सबके अरण्य में साधारण कला प्रेमी के लिए अपना मार्ग ढूँढ़ निकालना दुष्कर हो जाता है।

परन्तु बिना आयाम स्थिर किए विचारों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। सीमाएँ अस्फुट हों तो मनुष्य का बौद्धिक समाधान नहीं होता। यह सही है कि विश्लेषणात्मक पद्धति से, व्यापक विषय को कई भागों में बाँट कर उनकी क्रमशः परीक्षा करना कला के क्षेत्र में पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। जो पद्धति प्राकृतिक विज्ञानों में सफल सिद्ध होती है वह कभी-कभी आध्यात्मिक या कलात्मक विवेचन के लिए असफल रहती है। फिर भी तर्क क्रिया के लिए विश्लेषण अनिवार्य है। अतः उपयोग और यथार्थ की दृष्टि से कला के क्या आयाम हैं, इस व्यापक प्रश्न के विभिन्न अंगों की हमें क्रमशः परीक्षा करनी पड़ेगी।

सबसे पहले हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि उपयोगिता और यथार्थ ये दो अलग अलग मापदंड हैं। आधुनिक काल में ये एक-दूसरे के निकट आ गए हैं क्योंकि इन दोनों के ऊपर भौतिकवादी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। परन्तु यह समझना ठीक न होगा कि

इन दोनों पर समान मात्रा में जोर देने वाला कोई एक ही दृष्टिकोण है। यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि कला में उपयोगितावादी 'युटिलिटीरियन' साथ ही साथ यथार्थवादी 'रियलिस्ट' भी हो। प्लेटो से बढ़कर दूसरा कोई उपयोगितावादी कला के इतिहास में शायद नहीं मिलेगा, पर वह यथार्थवादी नहीं था। इसके विपरीत, उन्नीसवीं शताब्दी के योरोपीय समीक्षक फ्लोबेयर, गेटे इत्यादि यथार्थवादी होते हुए भी उपयोगितावाद के कट्टर विरोधी थे। उनके अनुसार 'कला कला के लिए है', परन्तु सफल कला यथार्थ को यथावत प्रतिबिम्बित करती है। ऐसे अन्य भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

एक और सम्भाव्य आँति से हमें सावधान रहना चाहिए। कला के आयाम की जब हम बात करते हैं, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सभी कलाओं के लिए एक ही नियम या मापदंड नहीं बनाया जा सकता। कलाओं की विभिन्नता और वैचर्य की उपेक्षा करना अतिसरलीकरण होगा। उदाहरण स्वरूप, उपयोगिता का जो स्थान वास्तुकला में है वह कविता में नहीं। इन दोनों कलाओं के वैचर्य को दृष्टि-गोचर रखना होगा। इसी प्रकार, चित्रकला में यथार्थ का प्रतिबिम्ब हमें जिस मात्रा में उपलब्ध हो सकता है, स्पष्ट है कि संगीत में उतनी यथार्थता की अपेक्षा हम नहीं कर सकते।

कला के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुत से

ऐसे प्रश्न और बाद-विवाद, जिनको हम आधुनिक या समसामयिक समझते हैं वास्तव में सभ्यता के आरम्भ काल से ही उठाये गए हैं। यथार्थवाद या उपयोगितावाद कोई आज की ही वस्तु नहीं। प्लेटो का जिक्र अभी हमने किया। करीब करीब ढाई हजार वर्ष पहले लिखे गए 'रिपब्लिक' और अन्य पुस्तकों में, विशेष रूप से साक्रेटीज़ के मुख से, प्लेटो ने इस प्रश्न को उठाया—क्या सौन्दर्य और उपयोग को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग किया जा सकता है? एक स्थान पर साक्रेटीज़ अन्य एक दार्शनिक से पूछता है कि उन आँखों को क्या तुम सुन्दर कहोगे जो देख न सकें? हिरन की टाँगों में यदि शक्ति और चापल्य न हो तो क्या कोई कवि उनकी प्रशंसा करेगा? मन्दिर या राजभवन के खम्भों को देखो। यदि वे अपने ऊपर लदे हुए ईंट पथरों का भार सहन न कर सकें, यदि उनकी नींव कमजोर हों, तो क्या तुम उनके निर्माताओं को अच्छे कलाकार कहोगे, चाहे उन स्तम्भों पर कितनी ही सुन्दर खुदाई की गई हो?

साक्रेटीज़ के ये शब्द सीधे-सादे लगते हैं पर उनमें महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं। सच तो यह है कि कला को बिल्कुल ही उपयोग हीन कहने वाला साहसी कोई बिरला ही मिलेगा। जैसा कि हम अभी देखेंगे, उपयोगितावाद के विरोध का यह अर्थ नहीं कि कला बेकार होती है। कला का उद्भव ही उन क्रियाओं में हुआ है जिनके द्वारा आदिम मानव को नैसर्गिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में सहायता मिलती थी। चित्रकला का जन्म गुफाओं में अंकित रेखाओं और रंग के धब्बों में है, जिनके ऊपर प्रहार का अभिनय करके प्रागैतिहासिक मानव पशुओं के आखेट में सफलता की आशा करता था। फसल काटना, मछली पकड़ना, शत्रुओं को मार भगाना इत्यादि

'उपयोगी' क्रियाओं के अनुकरण में नृत्य की उत्पत्ति हुई है। संगीत का उद्गम उन ध्वनियों और लयों में है, जिनके बगैर कठिन शारीरिक परिश्रम असम्भव सा हो गया था। इस तरह, सामूहिक जीवन की निबन्त आवश्यक क्रियाओं से ही कला का स्रोत निकला था।

ऐसा होते हुए भी यदि उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रत्येक युग में प्रतिक्रिया हुई है तो उसके क्या कारण हैं? विवाद का दूसरा पक्ष भी देखना आवश्यक है। कला की सीमाओं से 'उपयोग' का निर्वासन करना, यह एक अतिरेक है; परन्तु केवल उपयोगिता की सीमाओं तक ही कला का विस्तार निर्धारित करना, यह दूसरे प्रकार का अतिरेक है। उपयोगितावाद के विरोधी इसी दूसरे अतिरेक का खण्डन करते हैं। मानव तथा अन्य प्राणियों में जो अन्तर है वह गुणात्मक है, परिमाणात्मक नहीं। मानव सृजनशील है, और अपनी जीवात्मक 'बाई-लार्जिकल' आवश्यकताओं की पूर्ति से ही संतुष्ट नहीं होता। व्यक्ति और परिवेश का पारस्परिक सम्बन्ध तथा सहज प्रवृत्तियों का समाधान यह मानव जीवन का एक अंग है, पर एक अन्य क्षेत्र भी है, जिसमें मानव अपनी शक्ति के लिए एक नया माध्यम, नया मार्ग प्रशस्त करता है। यह है कला का क्षेत्र।

इस सत्य को कवियों कलाकारों ने ही नहीं, वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है। बर्गसों प्रभृति दार्शनिकों के अनुसार प्राण-शक्ति वा 'लाइफ फोर्स' उपयोगी क्रियाओं से अतृप्त होकर सृजनात्मक कलात्मक क्रियाओं का अवलम्बन करती है। हर्बर्ट स्पेन्सर का क्रीड़ा प्रवृत्ति या 'प्ले इन्स्टिंक्ट' का सिद्धान्त इसी सत्य की वैज्ञानिक रूप देता है। स्पेन्सर के अनुसार मानव की शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति उसकी जीवात्मक जरूरतों से बहुत अधिक है।

सहज प्रवृत्तियों में व्यय होते रहने पर भी वह बच रहती है। इसी अतिरिक्त शक्ति की धारा आवश्यकताओं के बाँध को तोड़कर सृजनात्मक कार्य में फूट पड़ती है।

तात्पर्य यह कि कला का विस्तार उपयोग के प्रदेश तक ही सीमित रखना किसी दृष्टि से भी तर्क शुद्ध नहीं जान पड़ता। साथ ही साथ जब 'कला के लिए कला' मिद्धान्त के अनुयायी यह कहते हैं कि सौन्दर्यानुभूति—व्यक्तित्व की अभिव्यंजना—तक ही कला का आयाम है, तब उनसे भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि हमने माना कि व्यक्तित्व-प्रकाश तक ही कला सीमित है, पर क्या यह भी एक प्रकार का उपयोग नहीं?

अब हम यथार्थ के प्रश्न की ओर मुड़ते हैं। यहाँ भी यदि हम पूरी समस्या को सर्वाङ्गीण समीक्षा करें तो देखेंगे कि जो विरोध यथार्थ और आदर्श, वास्तविकता और कल्पनिकता में उठाया गया है वह उतना तीव्र नहीं है जितना ऊपर से लगता है। यथार्थवादी भी यह मानेंगे कि कोई भी कला केवल यथार्थ चित्रण तक ही सीमित नहीं रह सकती। कलाकार यथार्थ को ज्यों का त्यों नहीं रख देता, उसके व्यक्तित्व की छाप उस यथार्थ पर पड़ती है, स्मृतिचित्रों और संवेदनाओं को सूँचे में ढालकर यथार्थ को वह नए रूप में प्रस्तुत करता है। यदि ऐसा न हो तो चित्रकार के 'ग्रश' और कैमरा के 'शटर' में कुछ भी अन्तर न रहे। साथ ही साथ यथार्थ से पूर्णतया असम्बन्धित कला की कल्पना ही स्वतः विरोधी है। मायावादी शंकराचार्य तक ने स्वीकार किया है कि विवर्त भी निताम्त अयथार्थ नहीं होता। जब रस्सी को हम सौंप समझ बैठते हैं तो उस समय सौंप की अयथार्थता के साथ रस्सी की यथार्थता भी सत्य है। कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में यदि यथार्थ न हो तो हम धोखा तक

नहीं खा सकते। यथार्थ से सर्वथा अज्ज्ञ कला अच्छी है या बुरी, यह प्रश्न तो बाद में उठता है। दार्शनिक दृष्टि से ऐसी कला का अस्तित्व ही संदिग्ध जान पड़ता है।

इस तरह, कला का विस्तार निर्धारित करने से पहले, हमें 'यथार्थ' शब्द की ही सीमाएँ स्पष्ट करनी होंगी। यदि यथार्थ का मतलब है केवल वे परिस्थितियाँ, परिवेश, वस्तुएँ, व्यक्ति, घटनाएँ इत्यादि जिनके बीच हमारा दैनन्दिन जीवन व्यतीत होता है, तो कभी कभी कलाकार का इस यथार्थ से ऊब जाना या बेचैन हो जाना सम्य है। कठिनाई तो यही है कि विवाद के दोनों पक्षों में 'यथार्थ' संकुचित अर्थ में लिया जाता है। आदर्शवादी या रोमांटिक कलाकार कहता है—इस 'यथार्थ' में सौन्दर्यानुभूति, सृजन प्रेरणा, नहीं मिलती इसलिए हम कला को एक कल्पनिक जगत में ले जाएँगे। इसके उत्तर में संकीर्ण यथार्थवादी कहता है—जो कुछ है, यही है। इससे पलायन करोगे तो तुम्हारी कला जीवित नहीं रहेगी।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यथार्थ का केवल एक ही स्तर हाँ सकता है? क्या यथार्थ में भी निम्नतर और उच्चतर के भेद नहीं हो सकते? क्या आदर्शों और स्वप्नों का जगत, बिल्कुल ही अयथार्थ है? एक आधुनिक लेखक के शब्दों में—कला के आयाम में सब्जी मण्डी का भी समावेश करना चाहिए। इस यथार्थवाद को हम मान्य कह सकते हैं, परन्तु कला का विस्तार केवल सब्जी मण्डी तक ही है, इस यथार्थवाद को हम स्वीकार नहीं कर सकते।

इसीलिए कला के इतिहास में जिन्होंने यथार्थवाद का विरोध भी किया है उनका अक्सर यह दावा रहा है कि उनकी कला यथार्थ से दूर नहीं वरन् उन्हें साधारण लोगों की

किसी की अधमुँदी पलकें

अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट ले जाती है। पर्वतों और नदियों में सामाजिक संबंधों और आर्थिक व्यवस्थाओं में, निसर्ग में और सामाजिक जीवन में यथार्थ है। उसका प्रतिबिम्ब कला में सर्वदा मिला है और भविष्य में भी मिलेगा। परन्तु यथार्थ का एक स्तर ऐसा भी है जहाँ उपनिषद् के शब्दों में आँखें नहीं पहुँचती, न कान सुनते हैं, जहाँ जिह्वा चुप है, जहाँ मे तर्क बुद्धि हताश लौटती है। महानतम कला हमें उस प्रदेश की वार्ता देता है जहाँ मामूली

पर्यटक नहीं पहुँच पाते। उस प्रदेश की सत्ता को हम अयथार्थ कहेंगे या अधिक यथार्थ ? रवीन्द्रनाथ की ये पंक्तियाँ हमी प्रश्न की ओर संकेत करती हैं :

मन दिये जा'र नागाल नाहि पाई

गान दिये ता'र चरण छुएँ जाई।

(एक ऐसा 'वास्तव' है जहाँ का पता ठिकाना

मनः शक्ति से मुझे नहीं मिलता। पर जब मैं

गीत गाता हूँ तब सहज ही उसके चरण छू

लेना हूँ।)

—इलाहाबाद से प्रसारित



किसी की अधमुँदी पलकें

चिरंजीव

किसी की अधमुँदी पलकें मुझे सोने नहीं देती।

हृदय की धड़कनों में आहटें ये मदभरी कैसे ?
मुझे खाने नहीं देती, सजग होने नहीं देती।

तिमिर में आज ये परछाइयाँ भी मुस्कराती हैं,
धिजलियाँ कौंध कर तम में मुझे खोने नहीं देती।

खुन किस रजनिगन्धा के अरे, ये केश सुरमीले,
कि डगमग रात मन का बोझ भी ढोने नहीं देती।

सितारे चत दिये, चल दी दिए की लौ पहरूसी,
घटाओं-सी घिरी अलकें सुबह होने नहीं देती।

ये जीवन सतत हारों की, अभावों की कहानी है,
मगर मधुरात की स्मृतियाँ मुझे रोने नहीं देती

—प्रवासी भारतीयों के लिए प्रसारित





अंग्रेजी सेना के भारतीय सिपाही

१८५७

: १ :

सामाजिक पृष्ठभूमि

डा० मथुरालाल शर्मा

सन् १८५७ के संग्राम के विषय में प्रायः ऐसा भ्रम है कि यह एक आकस्मिक उत्पात था और सैनिकों में असन्तोष के कारण एकदम हो गया था जैसे कोई बारूदखाने में चिनगारी लग गई हो। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं थी। इस उत्पात की पृष्ठभूमि बहुत असें से तैयार हो रही थी। ज्यों ही अंग्रेजों ने अपना राज्य जमाना शुरू किया त्यों ही देश में उनके प्रति ग्लानि और घृणा फैलने लग गई थी। कारण यह था कि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में जब अंग्रेजों ने राज्य प्राप्ति के लिए युद्ध किया तो वहाँ उन्होंने केवल वीरता या सैनिक कुशलता से ही काम नहीं लिया—बल्कि छल, कपट और प्रपंच का भी निस्संकोच उपयोग किया। प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला के सेनापति मीर जाफ़र को उन्होंने अपनी ओर मिलाया और फिर मीर कासिम को धोखा देकर हराया। अर्काट में अंग्रेजी सैनिकों को चावल खिलाया और भारतीय सैनिकों को केवल चावल का पानी ही पिलाया। अवध की बेगमों के साथ वारेन हेस्टिंग्स ने अमानुषिक व्यवहार किया। नन्दकुमार को अन्याय और बेईमानी के साथ फाँसी दी गई। टीपू सुल्तान के राज्य पर केवल राज्य लिप्सा के कारण आक्रमण किया और उसके पुत्रों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया। कर्नल मोनसन ने जसवन्त राव होल्कर पर चढ़ाई करते समय कोटा, बूँदी और जबपुर की सेनाओं को कटवा दिया और अंग्रेजी सिपाहियों को सुरक्षित बचाकर

वह वापस ले आया। इस प्रकार के व्यवहार से सारा देश यह अनुभव करने लगा था कि अंग्रेज़ विजेता केवल रण-कुशल हो नहीं हैं, वे कष्ट-कुशल भी हैं। यही कारण था कि लोगों में उनके प्रति ग्लानि और घृणा उत्पन्न होने लग गई थी।

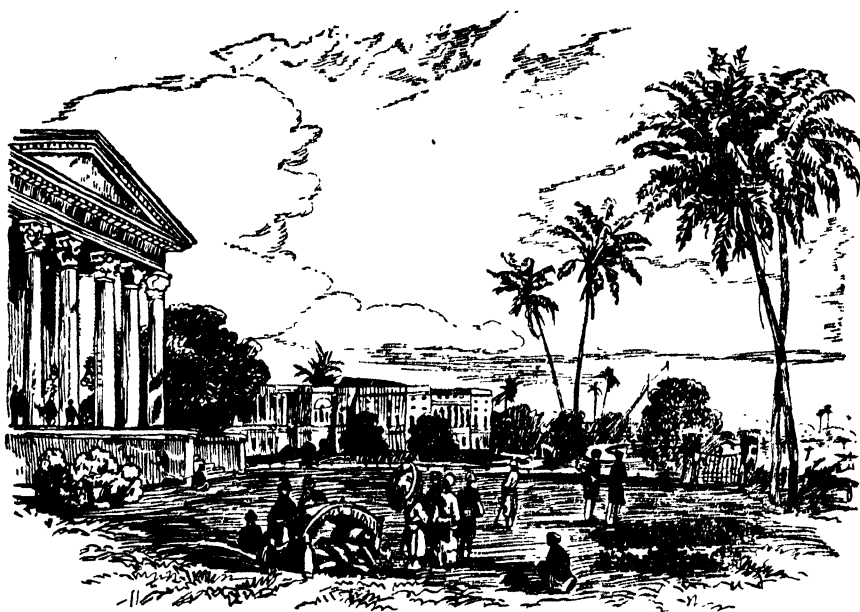
ईसाई उपदेशकों की प्रचार विधि से भी इस घृणा में वृद्धि हुई। वे लोग अपने धर्म का विवेचन कम करते थे और हिन्दू धर्म की निन्दा अधिक। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में समस्त देश में ईसाई प्रचारकों का जाल बिछ गया था। कहने को हिन्दू और मुसलमानों को भी अपने धर्म का प्रसार करने की स्वतन्त्रता थी, परन्तु न उनके पास सामर्थ्य थी, न साधन, और ईसाई प्रचारकों को यूरोप और अमेरिका से प्रचार के लिए विपुल धन राशि मिलती थी। इतना ही नहीं हिन्दुस्तानी लोग यह भी समझते थे कि अंग्रेज़ प्रचारक विजेता जाति के हैं, उनका सामना करना सरकार का सामना करना है। इसलिए वे अपने दृष्टि देशों की निन्दा को विवश होकर सुनते रहते थे। परन्तु मन में सब चुन्च थे और उस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे जबकि इनसे बदला लिया जा सके। प्रचारकों के अतिरिक्त अंग्रेज़ अफसर भी हिन्दुस्तान के धर्म और रीति-रिवाजों को प्रायः घृणा की दृष्टि से देखते थे, उनका उदाहरण करते थे और उनको तुच्छ और हेय समझते थे। इसीलिए मद्रास के सैनिकों को यह आदेश दिया गया था कि कोई भी सैनिक मिलक लगाकर काम पर न आवे। इस आदेश के कारण मद्रास की सेना में बढ़ा-चाम हा गया था और एक पूरी पलटन को और उमरक अफसरों को खरम कर दिया गया था। इस घटना को अंग्रेज़ों ने बहुत युक्त से देखा और गुप्त रखने का प्रयत्न किया। उद्देश्य यह था कि कहीं यह असंतोष और घृणा की आग दूसरे स्थानों में न प्रचल उठे।

अंग्रेज़ों में यह प्रवृत्ति थी कि जब कहीं कोई उत्पात होते थे तो उनको वे लोग स्थानीय असंतोष समझते थे और यह मानते थे कि यह कुछ लोगों का किया हुआ उत्पात है। इसीलिए उनको असंतोष की व्यापकता का पता नहीं लगता था, या वे जान बूझ कर ही उससे आँखें मूँद रहते थे।

अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तानियों से सम्पर्क बहुत कम रखते थे। वे लोग शहरों के बाहर रहते थे। उनका रहन-सहन न हिन्दुओं से मिलता था न मुसलमानों से। उनका खान-पान, रहन-सहन और पहनावा तथा बोलना सब भिन्न था। इसलिए उनको पता नहीं लगता था कि हिन्दू और मुसलमानों का उनके प्रति कैसा भाव है।

ईसाई प्रचारकों ने कितने ही स्कूल जारे किए थे, अस्पताल खोले थे और छापेखाने चलाए थे। स्कूलों में अंग्रेज़ों के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। छापेखानों से बाइबिल या दूसरा ईसाई-साहित्य प्रकाशित किया जाता था। अस्पताल में रोगियों को अच्छी निःस्वार्थ सेवा की जाती थी। परन्तु आम जनता यह समझती थी कि ईसाइयों का उद्देश्य ईसाई बनाना है। सरकार से इनको प्रत्यक्ष में कोई सहायता नहीं दी जाती थी, परन्तु पादरी लोग अंग्रेज़ थे और स्कूलों में हेडमास्टर और अस्पतालों में डाक्टर भी प्रायः अंग्रेज़ होते थे। इसलिए मायराण लोग उनको कलक्टर और कमिश्नर के समकक्ष समझते थे और ऐसा माना जाता था कि अंग्रेज़ पादरी में और अंग्रेज़ कलक्टर में कोई भेद नहीं है। इस कारण लोगों में यह विश्वास बढ़ता जाता था कि अंग्रेज़ सरकार सारे हिन्दुओं को ईसाई बनाना चाहता है। अतः यह स्वाना-विक बात थी कि घर-घर में अंग्रेज़ों के प्रति असंतोष होता।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेज़ा ने मराठों का दमन केवल साम्राज्य विस्तार के



बैरकपुर जहाँ कान्ति की पहली चिनगारी जली

लिए किया था। सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इसी समय गवर्नर जनरल के विचारार्थ इसकी योजना बनाई थी। वह भारत में अंग्रेजों का एकछत्र राज्य चाहता था। इस योजना के अनुसार जो मराठों से युद्ध हुए उनमें भोंसलों के राज्य का अन्त हो गया। पेशवा अंग्रेजों का पेंशनर बन गया और दूसरे मराठे सरदारों के पास केवल छोटे-छोटे राज्य रह गए। इस समय मराठे लोग उत्तर भारत के लोगों में घुल-मिल गए थे। उत्तर के हिन्दू शासकों के साथ कभी उनका मेल होता था और कभी झगड़ा। पेशवा ने इस बात का यत्न किया था कि हिन्दुओं के तीर्थ स्थान स्वतन्त्र और निर्विघ्न हों जावें। इसमें मराठों की सफलता भी मिली थी। पेशवा की माता राधाबाई ने उत्तर के तीर्थों की यात्रा करके बहुत अच्छा वायुमयबल पैदा कर दिया था। यद्यपि मराठों की लूट-मार किसी को पसन्द नहीं थी, परन्तु लोगों की यह आशा अवश्य थी कि एक दिन शान्ति स्थापित

हो जाएगी और मराठे लोग अच्छा शासन स्थापित कर देंगे। धीरे-धीरे ऐसा होता भी जाता था। इसलिए अंग्रेजों ने जब मराठों का दमन किया तो लोगों में बड़ा रोष और शोक फैला।

लोगों की यह धारणा बढ़ती ही गई कि अंग्रेज सारे भारतवर्ष को हड़पना चाहते हैं। भरतपुर पर अंग्रेजों ने साम्राज्य विस्तार की लाखलासे से आक्रमण किया था। उस समय भरतपुर के सारे राज्य में रोष उमड़ पड़ा था। किले को रक्षा के लिए बहुत अस्त्र-तक-समा-सान युद्ध तो हुआ ही था, परन्तु भरतपुर राज्य का प्रत्येक व्यक्ति उस समय अंग्रेजों से घृणा करने लग गया था। इसके गीत जगह-जगह गाए जाते थे। अंग्रेजों ने विज्ञान से विजय प्राप्त की, परन्तु लोग समझ गए कि ये लोग आत-तायी हैं और भारतवर्ष को रौंदने और लौंदने के लिए आए हैं।

इस बात की उस समय और भी पुष्टि हो

गई जब लार्ड डलहौजी ने अपनी इस नीति की घोषणा की कि यदि कोई शासक निःसन्तान मरेगा तो उसके स्थान पर गोद लेने की इजाजत नहीं दी जाएगी। उत्तर प्रदेश में कितने ही छोटे-छोटे पुराने राजाओं के राज्य छीने जा चुके थे और बड़े-बड़े जागीरदारों की ज़मीन-दारियाँ अंग्रेज़ों के राज्य में मिल गई थीं। इसका प्रभाव आम जनता पर यह पड़ा था कि अंग्रेज़ लोग देश का धन और हड़पना चाहते हैं। इससे इन राजाओं में और ज़मींदारों में ही नहीं, परन्तु सम्पूर्ण जनता में भी असन्तोष व्यक्त हो गया।

राजस्थान के बड़े-बड़े शासक मराठों से बचने के वास्ते अंग्रेज़ों की सहायता चाहते थे। परन्तु इन लोगों को इस बात का पता लग गया था कि अंग्रेज़ों की नीति अन्त में बड़ी कठोर सिद्ध होगी। दबाव में आकर सन् १८१७-१८ में राजस्थान के सब शासकों ने अंग्रेज़ों के साथ राजनीतिक सन्धियाँ कर लीं, परन्तु वे लोग इस बात का अनुभव करते रहे कि अंग्रेज़ उनकी स्वतंत्रता को नष्ट कर देंगे और उनको विवशता की ज़ंजीरों में जकड़ देंगे। ऐसी भावना राजस्थान के आम लोगों में भी थी। जनता को न अंग्रेज़ों के तरीके पसन्द थे न उनका रहन-सहन और न उनकी नीति।

कोटा राज्य में अंग्रेज़ों ने बड़े कपट का खेल किया था। वहाँ दीवान और शासक में उन्होंने युद्ध करवाया जिसमें अंग्रेज़ों की सेना ने दीवान की सहायता की। इस युद्ध में तीन अंग्रेज़ मारे गए थे। जिनकी तलवार से इनका वध हुआ उनकी लोगों में बड़ी प्रशंसा हुई और उनकी वीरता के गीत अर्से तक गाए गए। जयपुर राज्य में भी पोलिटिकल एजेंट का लोगों ने वध कर दिया था। मारनेवाले रियासत के सिपाही नहीं थे, बल्कि क्रूरक लोग थे। ये

लोग अंग्रेज़ों से घृणा करते थे। उस समय उन लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अंग्रेज़ लोग जयपुर राज्य को छीनना चाहते हैं और बालक शासक को मारना चाहते हैं। इसी सन्देह में एक दूसरे अफसर की भी हत्या हो जाती, परन्तु वह ज़रूमी ही होकर रह गया। कर्नल टाड बड़े चतुर और कुशल कूटनीतिज्ञ अफसर थे और राजपूतों में उनका मान भी था। परन्तु जब उदयपुर में उन्होंने लुपके से गोवध किया तो वहाँ भारी उत्पात हो गया और बड़ी कठिनाता से उनके प्राण बचे। फिर वह नगर में नहीं रह सके। उदयपुर शहर से १०-१२ मील के फासले पर वह बंगला बनवा कर रहे।

सन् १८२७ के उत्पात को चाहे ग़दर कहें या विप्लव कहें या स्वातंत्र्य संग्राम कहें, इसको अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और कोई भी दृष्टिकोण निराधार नहीं है। परन्तु यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह आकस्मिक उत्पात नहीं था, इसकी एक पुष्टभूमि थी जिसकी सृष्टि १०० वर्ष पहले से होने लग गई थी।

सन् १८२७ से कई साल गूहले बिहार, उत्तर प्रदेश और दिल्ली में अंग्रेज़ों को मार भगाने की योजनाएँ बनने लग गई थीं। पटना में तीन पार्टियाँ काम कर रही थीं अर्थात् ग्हाबी लोग, लखनऊ की पार्टी और दिल्ली का दल। लखनऊ की पार्टी में पीरअली, यूसुफअली और कुछ अन्य लोग प्रमुख थे। जब लार्ड डलहौजी ने अवध को अपने राज्य में मिलाया तो इन लोगों के हृदय में रोष की ज्वाला भधक उठी थी। दिल्ली वाली पार्टी में मुख्य अलीकरीम और वारिसअली थे। ये लोग बहादुरशाह की दयनीय दशा को देख-देख कर दिल में घुला करते थे। इन तीनों पार्टियों ने दीनापुर की हिन्दुस्तानी पलटन को अपने पक्ष में करने का यत्न किया था। परन्तु इनकी

कारवाह्यों का अंग्रेजों को पता लग गया, जिसके फलस्वरूप पटना के कमिशनर मिस्टर टेलर ने पटना निवासियों के शस्त्र छीन लिए थे और कितनों ही को मरवा दिया था। बूंदो राज्य में उस समय सूरजमल नामक एक चारण कवि थे। उन्होंने रतलाम नरेश, जोधपुर नरेश और कई जागीरदारों को सन् १८५७ से पहले कई पत्र लिख कर अंग्रेजों के खिलाफ़ उठ खड़े होने के लिए प्रेरित किया था— उन्होंने इस विषय में एक पत्र में लिखा था, ऐ देश के सरदारो अब तुम सिंह नहीं कहला सकते। यह अधिकार अब तुम्हें नहीं रहा। तुम तो विदेशियों की दया पर अपने दिन काट रहे हो। सिंह नाम वो उसका है जो दूसरों की दया का मोहताज न हो।

इसी प्रकार जोधपुर के कवि राजा बाँकीदास ने डिंगल भाषा में सन् १८५७ से कई वर्ष पहले एक गीत लिखा था जिसका अर्थ है कि 'अंग्रेज

हमारे देश पर चढ़ आए हैं। भरतो के छिन जाने से न नरेशों ने लज्जा का अनुभव किया और न गदघारियों ने कोई प्रयत्न किया। भरतपुर वालों ने खूब सामना किया; शरीर छोड़ा पर किला नहीं छोड़ा, तोपों का जवाब तोपों से दिया। सबसे पहले फिरंगी का सिर जमीन पर गिरा फिर स्वयं धराशायी हुए। परन्तु जबपुर, उदयपुर और जोधपुर नरेशो ! तुमने तो अपने सम्पूर्ण वंश गौरव को ही मिट्टी में मिटा दिया।'

सन् १८५७ का गढ़ मेरठ से शुरू आरम्भ हुआ और पहली गोली बैरकपुर में मंगल पांडे ने चलाई और दो अंग्रेज अफसरों का वध किया, परन्तु यह विस्फोट था जिसकी तैयारी सौ वर्ष से हो रही थी—व्यवस्थित रूप से नहीं किन्तु अव्यवस्थित रूप से, किसी योजना के अनुसार नहीं किन्तु व्याप्त रोष, असंतोष, ग्लानि और घृणा के बल से।

मेरठ छावनी में विस्फोट



सौ वर्ष तक विवश होकर लोगों ने अंग्रेजों की उच्छ्वङ्खलता देखी। सन् १८५७ से पहले दस-बारह बार सशस्त्र उत्पात भी हुए, परन्तु उनका दमन होता रहा। फिर भी जोग निराश होकर नहीं बैठे। अन्त में सन् १८५७ की ज्वाला धधकी और मुगल बादशाह ने, लक्ष्मी बाई ने, नाना साहब ने और कुँवर तथा

तौतिया टोपी ने, जिसका शुद्ध उच्चारण तौत्या टोपे है, इसका नेतृत्व किया। आम जनता ने क्रान्तिकारियों को गुप्त और प्रत्यक्ष कई प्रकार से सहायता दी। रणभेरी बजी और रणचण्डी का नृत्य हुआ। संग्राम में विजय और पराजय कभी भाग्य के अधीन भी होती है। वही सन् १८५७ में हुआ।

—जयपुर से प्रसारित

: २ :

क्रान्ति की परिणति

अलगूराय शास्त्री

१८५७ की क्रान्ति को अब १०० वर्ष हो गए।

सन् १८५७ की क्रान्ति क्यों आई? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या वह सचमुच एक राष्ट्रीय एवं राजनीतिक क्रान्ति थी, अथवा केवल एक सीमित सैनिक विद्रोह मात्र? ... इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर देने में इतिहास वेत्ताओं में मतभेद दिखाई पड़ते हैं। कहा जाता है कि इस क्रान्ति का निष्पत्ति इतिहास अभी तक संकलित ही नहीं हो पाया। जो कुछ लिखा गया है, वह सब पक्षपातपूर्ण आवेश में लिखा गया है। इस कारण खोजपूर्ण सामग्री जुटानी है और वस्तुस्थिति को अविकल गवेषणात्मक दृष्टि से देखने का आवश्यकता है जिसमें उक्त क्रान्ति का वस्तुचित्र तथात्मक स्वरूप में उपलब्ध हो सके। इसी दिशा में 'अठारह सौ सत्तावन' नामक श्री सेन कृत इतिहास की पुस्तक का प्रयत्न है। किन्तु चाहे जिस प्रकार उस पुस्तक को देखा जाय—उसका मूल भाग ही अथवा भूमि भाग—उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें

उक्त क्रान्ति के वास्तविक रूप पर असंदिग्ध प्रकाश पड़ा है। उसमें भी मतभेद के लिए भारी अवकाश बना रहता है। उससे अंग्रेज लेखकों की मान्यता का अधिक आदर सामने आता है। तब अभी १८५७ की क्रान्ति का उज्ज्वल निखर। हुआ पूर्णचन्द्र की निशावाला रूप और चित्र निमित्त होना ही शेष रह जाता है। और सत्य तो यह है कि स्वतन्त्र भारत का भावी स्वतन्त्र नागरिक ही वह चित्र बना सकेगा, जिसमें महारानी लक्ष्मीबाई अष्टभुजा दुर्गा की नाई अपना ऐतिहासिक अभिनय करती दीख पड़ेंगी तथा तत्कालीन क्रान्ति के अनगिनत अग्र-दूतों की देवी की शक्ति का संचय प्राप्त हुआ दिखाई पड़ेगा। नाना फड़नवीस, तौत्या टोपे, आदि अपनी जीलाओं में स्तुत्य कार्य करते दीख पड़ेंगे। अस्तु, यह तो एक खोज और गवेषणा की दिशा है और भावी गवेषकों का दुरूह कार्य क्षेत्र है। किन्तु जो इस विषय में निर्धिवाद है, जो सर्वमान्य है वह यह है :

● यह विद्रोह एक स्थान पर पहुँचकर एक राष्ट्रीय क्रान्ति के रूप में परिणत हो गया और उसने अनेक राष्ट्रीय वीरात्माओं को जन्म दिया।

● अंग्रेजी सेनाओं ने भीषण हत्याएँ और अनाचार किए।

सन् १८२७ में जब डलहौज़ी का भारत से प्रस्थान हुआ, भारत में प्रायः सर्वत्र अंग्रेजी शासन स्थापित हो गया था। किन्तु सहमा सन् १८२७ में ही उस शासन व्यवस्था को गहरी

१. यह युद्ध राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत था जिसमें हिन्दू-मुसलमान सब सम्मिलित थे। और यह परिणाम था उस प्रतिक्रिया का जो ब्रिटिश साम्राज्यशाही की क्रूरताओं में निहित थी। सन् १८३६ की अफ़गान लड़ाई से इसका श्रीगणेश हुआ था, क्रिमियन युद्ध में तुर्किस्तान ने इंग्लिस्तान तथा फ़्रान्स के साथ मिलकर रूस को हराया था—उसकी प्रतिक्रिया भारत के मुसलमानों में काम कर रही थी। सन् १८४३ में सिन्ध को हड़प लिया गया। सन्



कारतुस का अभ्यास

बुनौती मिल गई। जिस तीव्र विद्रोह का सामना उस शासन को करना पड़ा, उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि इस विद्रोह के मूल में थी एक तत्पक्षी राष्ट्रीय, सार्वभौम आत्मा की गहरी चीख और अदम्य बोत्कार। और उसके अनेक कारण थे जिनमें कुछ प्रमुख कारण उदाहरण के रूप में यह कहे जा सकते हैं :

१८४४ में ग्वालियर पर ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ। सन् १८४५ में कारमीर विजित हुआ। सन् १८४८-४६ में पंजाब का पराभव हुआ सन् १८५२ में बर्मा धराशाही हुआ।

२. इन रोमांचकारी युद्धों से मानो एक प्राचीन संस्कृति एवं सम्पन्नता की जाति का अपमान पूर्णतः न हुआ हो, इस कारण डलहौज़ी ने जखे पर गहरे नमक का पुट दे मारा—‘लैप्स’

का सिद्धान्त चालू किया गया। यदि कोई राजा अवंश मर जाए तो उसका राज्य ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाए। इस नीति के अधीन सन् १८४८ से सन् १८५४ के भीतर ७ देशी राज्य ब्रिटिश राज्य में मिला लिए गए। सन् १८५६ में अवध मिलाया गया, इसी प्रकार नागपुर एवं पंजाब पहले ही मिला लिए गए थे। ढाई लाख वर्गमील का बड़ा भूभाग इस प्रकार हड़पा गया। यदि ऐसी नीति न कार्यान्वित की गई होती तो विद्रोह होता ही नहीं।

‘इंडिया इन रिवोल्ट’ के लेखक मेजर जनरल जे० एफ० सी० फुलर कहते हैं कि “नो मैं न इन दी होल हिस्ट्री ऑफ दी ब्रिटिश आक्यूपेशन ऑफ इंडिया हैज़ इन ए ग्रेटर इनजस्टिस टू इंडिया आर डिस्सर्विस टू ब्रिटिश एम्पायर देन लार्ड डलहौज़ी डिड ड्यूरिंग द ईयर्स ऑफ हिज़ गवर्नरजनरलशिप। हिज़ पालिसी ऑफ ‘लैप्स’ वाज़ अटरली सुइसाइडल।”

३. करघे का व्यवसाय नष्ट कर दिया गया था—कारखाने खुल गए थे। जुलाहों की बढ़ी संख्या भुखमरी का शिकार हो रही थी। दस्तकार उत्पीड़ित हो उठा था।

४. उच्च सरकारी नौकरियों विदेशी गौरांगों के लिए सुरक्षित थीं, देशी उनमें लिए नहीं जाते थे।

५. सेना में हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी का भेद था—उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र हिन्दुस्तानियों को नहीं मिलते थे। जनता के अस्त्र-शस्त्र छीन लिए गए थे।

६. ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा भारत की पुरानी मान्यताओं का उपहास किया जा रहा था।

इन कारणों से भारत भर में एकात्मता और एकसूत्रता के आधार पर निराशा, असन्तोष और विद्रोह फैल गये थे। अवध की ताल्लुकदारी मिटाई जाने लगी थी। इन सब कारणों से यह व्यापक विद्रोह आया।

पंडित जवाहरलाल जी के उद्गार इस क्रान्ति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। जवाहरलाल जी कहते हैं—“यह केवल सैनिक विद्रोह न था। यह एक व्यापक सर्वसाधारण का विद्रोह था। विद्रोह ने स्वतन्त्रता के संग्राम का रूप ग्रहण कर लिया जो घृणित विदेशी सत्ता के विरुद्ध था। किन्तु यह पुराने भूमिपतियों के विरोध के रूप में था—सामान्य जनता उसमें भाग नहीं ले रही थी, तो भी भारी जनसंख्या उसमें सम्मिलित हुई क्योंकि उसने अपनी दुर्दशा को इसी शासन सत्ता से सम्बन्धित किया। धार्मिक भावना भी काम कर रही थी—हिन्दू-मुसलमान दोनों इसमें सम्मिलित थे।”

जे० एफ० सी० फुलर के उद्गार भी यही हैं, वह कहते हैं :—१८५७ का विद्रोह बाहर से सैनिक विद्रोह प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में भीतर से वह राष्ट्रीय विद्रोह और उथल-पुथल थी। “यह एक युद्ध था जिसमें राष्ट्रीय भावना भरी थी। हिन्दू-मुसलमान इसमें साथ-साथ संलग्न थे” इत्यादि।

१८५७ की क्रान्ति आई और गई किन्तु जैसे पीपल का एक बीज अपने को गला-पचा कर एक विशाल न्यग्रोधवृक्ष को जन्म दे जाता है, उसी प्रकार यह क्रान्ति बड़े-बड़े परिणामों की जननी बनी। प्रत्येक विफल क्रान्ति अपने बाद आने वाली अंशतः व सम्पूर्णतः सफल क्रान्तियों की पुष्टभूमि हुआ करती है—

“पार करना चाहते हो पारतंत्र्य समुद्र को ? खून की नदियों को पहले पार करना सीख लो !” के उद्गार उसी सत्य का पाठ पढ़ाते हैं। जे० एफ० सी० फुलर के शब्दों में इस क्रान्ति के मुख्य तीन परिणाम हुए :

१. इसमें जो पारस्परिक अत्याचार और हिंसाएँ हुईं उनसे भारतवासियों तथा अंग्रेजी शासन के बीच शारवत घृणा की नींव पड़ गई।

२. ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की

समाप्ति हुई। ब्रिटिश शासन रानी विक्टोरिया के राज्य के अधीन भारत में स्थापित हुआ और इस प्रकार भारतीय नेताओं और जनता का सीधा सम्पर्क प्रजातन्त्र प्रणाली वाली पार्लियामेंटरी प्रणाली के शासन के साथ हुआ।

३. तीसरा, किन्तु कम महत्त्व का नहीं, परिणाम यह हुआ कि भारत की राष्ट्रीयता को चाहे अनचाहे ही क्यों न हो स्वीकृति एवं मान्यता मिली। विद्रोह के समय ही गोलडविन स्मिथ ने यह स्वीकार कर लिया था कि भारत को अपने शासन की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। 'दी इंडियन काउन्सिल एक्ट १८६१' इसी स्वीकृति का ज्वलन्त प्रमाण है जिसके द्वारा भारतीय अपने देश के लिए विधि निर्माण करने में थोड़ा-बहुत अधिकार प्राप्त करने लगे।

इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि १८२७ की क्रान्ति का चाहे जो भी दूसरा परिणाम रहा हो, किन्तु यह तो निर्विवाद ही सिद्ध है कि उसके चार वर्ष बाद ही यह ऐक्ट बना—भारतीयों को शासनाधिकार की पहली किस्त दी गई। रानी विक्टोरिया की घोषणा उसकी

भूमिका थी, लार्ड कैनिंग का मृत्यु शासन काल उसकी प्रथम किरणें थीं।

तो हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज हम जिस स्वातन्त्र्य महावृक्ष की छाया में बैठे हैं उसका बीज उसी क्रान्ति में था। कांग्रेस की स्थापना हुई और उसकी वार्षिक मीटिंगों में भौति-भौति की माँगें और जनता में नवीन राजनीतिक चेतना का प्रसार होना प्रारम्भ हुआ। सन् १८८४ में कांग्रेस स्थापित हुई थी १८८२ में बम्बई में उसका प्रथम वार्षिक उत्सव विशाल जनसमुद्र की नाई उमड़ पड़ा। इस प्रकार १८२७ की विकल क्रान्ति अपने त्याग-बलिदान के साथ जो भावनाएँ लाई, उससे भारत को राजनीतिक, सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी, आर्थिक—स्वदेशी आन्दोलन द्वारा सभी प्रकार की अग्रगामी दिशाएँ प्राप्त हुईं। यह क्रान्ति इस प्रकार परिणत हुई :

- राजनीतिक चेतना के रूप में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, धर्मसमाज, प्रार्थनासमाज आदि के आन्दोलनों से भौति-भौति के सामाजिक सुधार हुए,—जैसे सती प्रथा



विद्रोही सैनिक

का पूरा मिटना, विधवा-विवाह का स्वीकार होना, अछूतों का उद्धार होकर अछूतेपन का पाप स्वतन्त्र संविधान द्वारा सर्वथा मिट जाना ।

- स्वदेशी की भावना से खादी की तथा हाथ करघे के उद्योग द्वारा दस्तकारियों को प्रश्रय मिलना, इत्यादि ।
- स्वदेशी शिक्षा को मान्यता द्वारा गुरुकुल प्रणाली का प्रचलन हुआ तथा विद्या-

पीठों की स्थापना से राष्ट्रीय शिक्षा को प्रोत्साहन मिला । फलतः सभी क्षेत्रों में भारत अपनी स्वतन्त्र इकाई में उठकर खड़ा हो गया ।

जिस क्रान्ति के गर्भ से ये महान परिणाम प्रकटे उस क्रान्ति के अधिनायकों को श्रद्धा से, कृतज्ञता से नमस्कार है—उनकी आत्मा हमें सदा सत्प्रेरणा देती रहे ।

—दिल्ली से प्रसारित

: ३ :

क्रान्ति के गीत

देवेन्द्र सत्यार्थी

राल्फ विलियम्स के कथनानुसार—लोकगीत न पुराना होता है न नया । वह तो जंगल के वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें तो दूर धरती में (अतीत में) धँसी हुई हैं, परन्तु जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ, पत्तल और फल फूलते रहते हैं । इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि देश-देश में लोकगीत पर युग-धर्म के अनुसार ऐतिहासिक छाप लगती रहती है ।

चमत्कार को ही प्रणाम है । सन् १८५७ में विप्लव का झंडा उठाकर जो भारतीय सैनिक फिर्ंगी के प्रमुख से टक्कर लेने को तैयार हुए, जिन्होंने १० मई को मेरठ में विदेशी झंडे को उतार फेंका और उसी रात पैदल चले हुए ११ मई को सवेरे दिल्ली पहुँच कर वहाँ भी विदेशी झंडे के स्थान पर स्वतन्त्र भारत का झंडा फहराया, उनके नाम आज इतिहास में सुप्त हैं । फिर भी हम उन अज्ञात क्रान्तिकारियों के प्रति श्रद्धा से नमस्कार हुए बिना नहीं रह सकते ।

नाना साहब, भौंसी की रानी लक्ष्मी बाई, तारिया टोपे, बिहार के जगदीशपुर के राजा कुँवरसिंह, अज़ीमुल्ला और मौलवी अहमद दीन—ये थे सन् १८५७ की क्रान्ति के नेता । सभी ने एकमत होकर, हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव भूलकर दिल्ली में मुगल बादशाह बहादुरशाह को अपना अधिनायक स्वीकार किया था । उस समय तक वस्तु-स्थिति यह थी—हुकम कम्पनी मुगल बादशाह । पर यह तो कहने भर को था । बहादुरशाह का अधिकार केवल दिल्ली के लाल किले तक सीमित था । क्रान्तिकारियों के अधिनायक के रूप में बहादुरशाह ने जयपुर, जोधपुर आदि राज्यों के नरेशों तथा दूसरे लोगों को जो पत्र लिखे थे, उनमें कहा था, “यह जरूरी नहीं कि मैं ही हिन्दुस्तान के समस्त पर बैटूँ ।” ११ मई से २० सितम्बर तक लाल किले पर क्रान्ति-सेना का अधिकार रहा । २० और २१ मई को अंग्रेजों के साथ पहली बड़ी लड़ाई हुई—गाज़ियाबाद के समीप

हियडन नदी पर। दूसरी लड़ाई ७ जून को बादली की सराय पर हुई। तीसरी लड़ाई नज़फ़गढ़ के पास बंगाबी गाँव की गद्दी में हुई। इन तीनों लड़ाइयों में अंग्रेज़ ही जीते। १० सितम्बर को अंग्रेज़ों ने पूरी शक्ति जुटा कर धावा बोल दिया। १७ और १८ सितम्बर को जामा मस्जिद के उत्तरी द्वार के सामने घमासान युद्ध हुआ। २० सितम्बर को दिल्ली की नव-अर्जित स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। दिल्ली की पराजय का कारण एक तो स्वयं भारतीय मुखबिरों द्वारा देश के साथ विश्वासघात था, दूसरे अंग्रेज़ों की संगठित शक्ति को उनके पिटूठ कुछ भारतीय राजाओं से समय पर सहायता मिलती रही।

कानपुर में नाना साहब का अधिकार हो गया था, उनके सलाहकार थे अज़ीमुल्ला और युद्ध में दाएँ हाथ थे तारिया टोपे। भौंसी में रानी लक्ष्मीबाई ने स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व किया। बिहार में राजा कुँवरसिंह ने २६ अप्रैल १८५८ तक अंग्रेज़ों का नाक में दम किए रखा। अन्य स्थानों पर कुछ स्थानीय वीर क्रान्ति में सम्मिलित हुए।

यह सही है कि इस क्रान्ति में विजय अंग्रेज़ों की ही हुई। पर इस क्रान्ति में हारने के बावजूद हिन्दू-मुसलमानों में यह भावना सुदृढ़ हो गई कि एक न एक दिन उनका आज़ादी का सपना सत्य सिद्ध होगा। सन् १७१७ में प्लासी के युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय के कारण हिन्दुस्तान के माथे पर गुलामी का ढीका लग गया था। उससे पूरे एक सौ वर्ष पश्चात होने वाली इस क्रान्ति के पीछे “सदी पलटती है” वाला लोक विश्वास भी बहुत हद तक काम कर रहा था। इस क्रान्ति में विफल होकर भी देश की आत्मा सो नहीं गई। इसके चौबीस वर्ष पश्चात देशवासियों की दशा सुधारने के निमित्त सन् १८८२ में

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। “सदी पलटती है” वाला लोक विश्वास भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के पीछे भी काम करता रहा, और भारत के सौभाग्य से इस वर्ष पहले ही, अर्थात् १९१७ की बजाय १९४७ में ही सदी पलट गई, और हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया।

सन् १७ के क्रान्तिकारियों के लोकगीत इस बात के प्रतीक हैं कि लोकगीत की जड़ें हमारे अतीत में धँसी हुई हैं, और इससे निरन्तर नई-नई ढालियाँ, पल्लव और फल फूल रहे हैं।

रानी लक्ष्मीबाई के सम्बन्ध में एक अंग्रेज सर ह्यू रोज को यह स्वीकार करना पड़ा था कि “वह विद्रोहियों में सबसे बहादुर और सबसे भली थी।” सुप्रसिद्ध हिन्दी कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने रानी लक्ष्मीबाई सम्बन्धी अपनी कविता में यह ढेर लगाई थी, “हरबोले बुन्देलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मरदानी वह तो भौंसी वाली रानी थी।” अब ज़िला इटावा से प्राप्त लोकगीत सुनिए :

खूब लड़ी मरदानी, अरे भौंसी वाली रानी ।
बुरजन-बुरजन तोपें लगाई दई, गोला चलाए
अस्मानी ।

अरे भौंसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी ।
सगरे सिपहियों को पेड़ा जलेबी, अपने चबाई
गुड़ धानी ।

अरे भौंसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी ।
छोड़ मोर्चा लश्कर को भागी, दूँ देह मिले नहीं
पानी ।

अरे भौंसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी ।
पंजाब के एक ‘माहिदा’ गीत में भी भौंसी वाली रानी का कीर्ति गान हुआ है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि अन्धे ही पंजाब के राजाओं ने अपनी सेनाओं से इस क्रान्ति को दबाने में अंग्रेज़ों की मदद की थी,

आकाशवाणी प्रसारिका

फिर भी पंजाब के लोक मानस पर राष्ट्रीय
मावना की छाप कायम रही :

बानगी दूज दी ए

भाँसी वाली रानी नूँ, कुल दुनिया
पूजदी ए

(दूज के चाँद की चाँदनी है। भाँसी वाली
रानी की तो सारी दुनिया पूजा करती है।)

ताँत्या टोपे को एक इतिहासकार ने सन्
१८२७ की क्रान्ति का हनुमान कहा है। कानपुर
में पेशवाओं की पराजय होने के बाद यह ताँत्या
टोपे का ही चमत्कार था कि उसने अपने साथ
सेना खड़ी करके कानपुर के किले जैसे कठिन
दुर्ग पर अधिकार जमा लिया। इस वीर सेनानी
की योजना फिर से कानपुर पर विजयी होने की
थी, पर उसके एक निकटवर्ती सैनिक ने विश्वास-
घात किया। दो वर्षों तक ताँत्या टोपे छापामार
युद्ध-शैली से ब्रिटिश सेना नायकों की योजनाओं
को धूल में मिलाता रहा।

बुन्देलखण्ड में मण्डपाच्छादन के विवाह-
गीत की लय में रचित एक गीत में ताँत्या
टोपे का अभिवादन किया गया है :

तान्त्या टोपे बुलायो राजा आबुल चारऊ खूँटन
चार सेना सजैयो

फिरंगी मार भगैयो।

युद्ध ई युद्ध पुकारो राजा आबुल,

भई है युद्ध की बेर,

भाँसी के जोधा बुलाओ मेरे आबुल,

दिल्ली को तोप मँगाओ मेरे बाबुल,

देस मरजाद बचाओ मेरे बाबुल

जयजयकार मनाओ, केसर तिलक लगाओ,

भारत मात धराओ, माँ को सीस निवाओ,

हमरत अरख दिवाओ,

युद्ध ई युद्ध पुकारो मेरे बाबुल,

भई है युद्ध की बेर,

तान्त्या टोपे बुलाओ मेरे बाबुल,

फिरंगी मार भगाओ,

फिरंगी मार भगाओ मेरे बाबुल,
भारत मात पुजाओ।

भारत मात पुजाओ मेरे बाबुल,

हमरत अरख दिवाओ

फिरंगी राज ने पूजे मेरे बाबुल,

देस के राज पुजाओ।

लन्दन के टाइम्स पत्र ने उन दिनों लिखा
था : “गत जून से उसने सारे मध्यभारत में
खलबली मचा रखी है। उसने छावनियाँ नष्ट
कर दीं, उसने नर्मदा को कई बार बार-बार
किया। वह आज हमारी फौजों के बीच में था,
कल पीछे था, तो परसों आगे था... पर्वतों के
ऊपर, नदियों की छातियों पर, दरों और घाटियों
में वह निःशंक होकर आगे से पीछे और पीछे
से आगे, दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ...
आक्रमण करता हुआ... परन्तु हवा की तरह
अदृश्य घूमता था।”

बिहार में जगदीशपुर के पँवरिया टोला
से प्राप्त एक लम्बे गीत में राजा कुँवरसिंह को
बाबू कहकर लोक कवि ने एक स्थल पर अंग्रेज
जरनल के साथ उनके काल्पनिक प्रश्नोत्तर का
चमत्कार दिखाया है।

जगदीशपुर किला छोड़ दिया,

जंगल में घुस जाय,

जंगल-जंगल बाबू चले,

ई जरनल जोर किया

दूरबीन लगाय के देखे जाय

यही बाबू जाता है

लिख परवाना भेजे का

सुनो बाबू मेरी बात

जंगल छोड़ कर लड़ो,

हतनी बात बाबू सुने

सुन जरनल मेरी बात

मैं जंगल छोड़ूँगा,

तुम तोप धर के लड़ो,

हतनी बात जरनल सुने



बहादुरशाह का आत्मसमर्पण

सुनिये बाबू मेरी बात,
मैं तोप नहीं धरूँगा,
मेरी तोप माता है
इतनी बात बाबू सुने
सुन जरनैल मेरी बात,
तुम्हारी तोप माता है,
मेरा जंगल पिता है,
मैं जंगल छोड़ूँगा नहीं ।

सन् १८५७ के सभी ज्ञात और अज्ञात

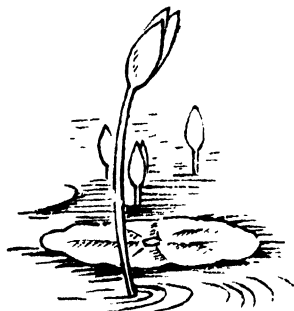
वीरता, उन्हीं की कीर्ति ! उन्हें प्रणाम, जिन्होंने
ज्ञान हथेली पर रखी ! वे हार कर भी हमारी
आज़ादी के भागीदार बने—जिन्होंने इतना
जिगरा किया, जिन्होंने अगला-पिछला, नया-
पुराना, सब जोहते हुए अपना रक्त बहाया, अपनी
हड्डियों की खाद दी, उन सबको हमारा प्रणाम !
उनके बलिदान को प्रणाम ! लोकगीतों में बनी
उनकी समाधि पर खिलते फूलों का शत-शत
स्वागत !

क्रान्तिकारियों को हमारा प्रणाम—जिनकी

—दिल्ली से प्रसारित

* इस लेखमाला के अन्तर्गत क्रान्ति नायकों के सम्बन्ध में श्री रमेशचन्द्र श्रीवास्तव की वार्ता
'आकाशवाणी प्रसारिका' के जनवरी-मार्च १९५७ अंक में पढ़िए ।

इन लेखों के साथ दिए गए चित्र अंग्रेज इतिहासकारों के ग्रंथों में प्राप्य अंग्रेज कलाकारों के चित्रों पर
आधारित हैं ।



नौकरी की तलाश में ग्रेजुएट

आर० के० श्रीवास्तव

मैं ग्रेजुएट हूँ.....जी हाँ मैं ग्रेजुएट हूँ यानी कि बी० ए० पास हूँ, नौकरी की तलाश में हूँ। नौकरी की तलाश!...यह भी जिन्दगी की एक सूरत है, लेकिन उतरी हुई उस तस्वीर की तरह जिसका रंग विधवा के सिन्दूर की तरह उड़ गया हो, जिसका कौंच सपनों की तरह टूट गया हो और जिसका फ्रेम माथे पर उभरी चिन्ता की रेखाओं की तरह बज्र खा गया हो। बी० ए० की डिग्री!...तू दूर से कितनी खूबसूरत दिखाई देती है, ठीक चाँद की तरह—लेकिन गले पड़ने पर पता चलता है कि तू मौत की तरह ठंडी है। मुझ जैसे बेकार घुरे पर पड़ी हुई रही कागज की पुड़िया! मेरे रंगीन सपनों की गुड़िया! तुझे हासिल करने के लिए मैंने जितनी तपस्या की उतनी अगर किसी झोकरे के लिए करता, तो वह लैजा हो गई होती और मैं मजन्तू। तू आई लेकिन मेरे अरमानों की लाश पर कागजी कफ़न की तरह। बी० ए० की डिग्री!...तू मध्यवर्गीय भारतीय नारी की तरह बेज़बान है, अन्धी है, समाज के लकवा खाए अंग की तरह निष्क्रिय बेकार है, तुझ से क्या कहूँ? मेरी जन्मकुण्डली में तेरे बनाने वाले पंडितों के सामने तुझे आहुता बना कर रख देना चाहता हूँ, ताकि वे तुझ में अपनी सूरत देख सकें, समाज की सूरत देख सकें। बेकारी की सूर्यशाखा डिग्री का घूँघट ढाले घूम रही है। जीजिए मैं घूँघट का पर्दा उठाकर आपको लक्ष्मण का काम सौंपता हूँ।

जोग कहते हैं, बी० ए० की डिग्री और नौकरी में सिर्फ एक कदम का फासला है। एक हाथ से डिग्री जीजिए और दूसरा हाथ नौकरी की कमर में डाल दीजिए, नौकरी को दुलहिन की तरह घर ले आइए। काश! यह सच होता, लेकिन सच इतना आसान नहीं होता कि सब लोग मजे में चाहे जहाँ बहते फिरे। आजकल सच कहने वालों की संख्या इतनी कम है कि सच पर सबसे अधिक अविरवास किया जाता है। सच और झूठ की आपस में सुरतें बदल गई हैं। सच समाज का गुलाम है और झूठ समाज का नेता। सच मशीन की तरह काम करता है, समाज को जिन्दा रखता है और झूठ मशीन की तरह काम करने वाले सच का मालिक है, जो बैंगलों में रहता है, मोटरों में घूमता है, भाषण देता है और समाज का आदर्श कहलाता है। सच यथार्थ है और झूठ आदर्श, जिस तरह मैं यथार्थ हूँ और मेरी डिग्री आदर्श! मतलब यह कि आजकल का आदर्श मेरी डिग्री की तरह झूठ है और आजकल का यथार्थ स्वयं मेरी तरह सत्य होते हुए भी बिल्कुल बेकार।

नौकरी की तलाश में भटकने वाला ग्रेजुएट सत्य की तलाश में भटकने वाले संन्यासी से कम नहीं। ग्रेजुएट के लिए नौकरी ही सबसे बड़ा शाप है, नौकरी ही ब्रह्मा है, नौकरी यानी कि सर्विस ही सम्मत है, इसीलिए आजकल में प्रातःकाल यही प्रार्थना करता हूँ.....

नौकरी की तलाश में ग्रेजुएट

ईश्वर अस्त्रा तेरे नाम ।

सबको सर्विस दे भगवान ॥

आध्यात्मवादी लोग इस प्रार्थना से चौकेंगे मैं उनसे बहस नहीं करूँगा । सत्य एक हो सकता है, लेकिन उसके रूप अनेक हैं । बीसवीं शताब्दी में वह नौकरी के रूप में प्रकट हुआ है । इस सत्य के प्राप्त करने के लिए संन्यासियों की तरह डिग्री का भिन्नापन्न हाथ में लेकर घरदार छोड़ना पड़ता है । मैंने कहा न, नौकरी की तलाश में भटकने वाले ग्रेजुएट और सत्य की तलाश में भटकने वाले संन्यासी में कोई फर्क नहीं ।

मेरी बातों पर आप अविश्वास करना न भूलें, क्योंकि ये सच कह रहा हूँ । डिग्री और नौकरी के बीच एक कदम का फासला नहीं, बल्कि एक जोड़ी जूते का फासला है । फासला नापने के लिए कदमों की जगह जूते का इस्तेमाल करने की माफी चाहता हूँ । पिछले साल बी० ए० की डिग्री हासिल करने के बाद नौकरी की मंजिल तक पहुँचने के लिए एक जोड़ी नया जूता खरीदा था । जूता जवाब दे चुका है लेकिन नौकरी की मंजिल का अभी तक कोई पता नहीं चला ।

मैंने कहा न, डिग्री और नौकरी के बीच कम से कम एक जोड़ी जूते का फासला है । जूतों से फासला नापने के इस नये प्रयोग में मुहावरे की एक सूरत है और हर मुहावरे के पीछे एक सत्य होता है । मेरे फटे हुए जूते से निकली हुई सत्य की कील मेरी एबी में चुभ रही है । लगता यूँ है कि अब मुझे जूता निकाल कर गंगे पार ही सफ़र करना होगा ।

नौकरी की मंजिल अभी दूर है... जूते फट चुके हैं... और फटे हुए जूतों की सुफ्त मरम्मत करने वाले भक्त रैदास इस थर्ड क्लास दुनिया में फिलहाल तो नहीं हैं ।

जी हाँ यह दुनिया की रेलगाड़ी जिसमें आपने फर्स्ट क्लास, सेकंड क्लास और थर्ड क्लास आदि के कम्पार्टमेंट्स बना रखे हैं पूरी की पूरी थर्ड क्लास है । मेरी बी० ए० की डिग्री पर थर्ड क्लास है । थर्ड क्लास कोई नाक-भौं सिकोड़ने जैसी वृणित चीज नहीं है । गांधी जी फर्स्ट क्लास आदमी थे लेकिन उन्होंने प्रेशा थर्ड क्लास में सफर किया । मैंने भी मैट्रिक से लेकर बी० ए० तक की तमाम परीक्षाओं का सफर थर्ड क्लास में ही किया है । महज थर्ड क्लास में सफर करने या थर्ड क्लास डिग्री हासिल करने से कोई थर्ड क्लास आदमी नहीं हो जाता, लेकिन इस थर्ड क्लास दुनिया का क्या कहिए गोया थर्ड क्लास में सफर करना या थर्ड क्लास डिग्री हासिल करना जुर्म हो गया है । थर्ड क्लास जनता क्लास है, गांधी क्लास है... फिर थर्ड क्लास से इतनी नफरत क्यों, इतनी दुरमनी क्यों ? मैं सच बोलने की इजाजत ले चुका हूँ । आप अविश्वास करना न भूलिए । आजकल गांधी क्लास ग्रेजुएट को नौकरी की सबसे ज्यादा तलाश है, उसे नौकरी नहीं मिल रही शायद इसलिए कि हमसफर गांधी आज हमारी क्लास में नहीं हैं । उधर गांधी ने मुँह फेरा नहीं कि यारों ने गांधी क्लास को फिर थर्ड क्लास बना डाला । गांधी क्लास को जो इज्जत हासिल थी वह गांधी के साथ ही उठ गई । मैंने कहा न यह सारी दुनिया ही थर्ड क्लास है । सिफारिश के बिना इस थर्ड क्लास दुनिया का कोई काम चलता ही नहीं है चाहे वह दौतों का मंजन हो या अँखों का अंजन, चाहे अँगूठा क्लाप सेठ हो या बेकार ग्रेजुएट—सबके लिए सिफारिश प्रचार या प्रोपेगेंडा की ज़रूरत होती है ।

नौकरी की मंजिल तक पहुँचने के लिए सिफारिश की सबक 'शार्टेस्ट कट' है । सिफा-

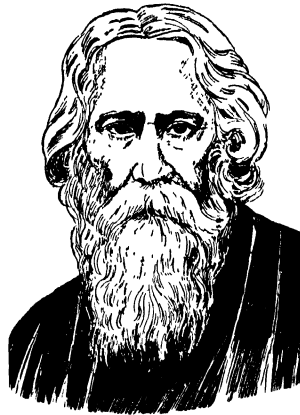
रिश एक किस्म का हिप्नोटिज्म है, जादू है, अगर नौकरी के ठेकेदारों के सिर पर चढ़ गया तो डिग्री की ताक में रखिए। सिफारिश अपने आप में फस्ट क्लास डिग्री है। मैं सच बोलने की इजाजत ले चुका हूँ। रिश्तेदारी या सजातीयता को सिफारिश का परमिट समझिए। सिफारिश का वरदान पाकर मूर्ख से मूर्ख ग्रेजुएट भी वीर शिरोमणि शिखण्डी की तरह बबूबहाता हुआ इण्टरम्यु के मैदान में उतरता है और उसके प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान वज्र ग्रेजुएट भीष्म की तरह धराशायी हो जाते हैं। सिफारिश की कोल से जन्मे इस शिखण्डी सत्य से जूझने भला कौन मर्द आगे आएगा। कृपया महिलाएँ आगे आएँ। महिलाओं की तो सूरत ही सिफारिश होती है। आजकल 'लेडीज़ फस्ट' का ज़माना है। हर जगह महिलाओं की माँग बढ़ रही है। पुरुष के हर काम में स्त्रियों का आधा हिस्सा बँट गया है। आजकल मुझे नौकरी से ज्यादा ग्रेजुएट बीवी की तलाश है। ग्रेजुएट बीवी को नौकरी मिलने में कोई देर नहीं लगेगी।

जिस तरह थर्ड क्लास डिग्री का तोड़ सिफारिश उसी तरह सिफारिश में भी सुरंग लगाने की एक सूरत है। ज़रा अपने कान मेरे मुँह के करीब लाइये। किसी ने सुन लिया तो मामला अदालत में जा सकता है। अगर आप में नौकरी खरीदने की ताकत है तो सिफारिश वालों की दाल नहीं गल सकती। हर चीज़ की तरह आजकल नौकरियाँ भी बिकती हैं। जिस तरह मकान किराए पर लेने के लिए पगड़ी देनी पड़ती है, उसी तरह नौकरी हासिल करने के लिए टोपी देनी पड़ती है। पगड़ी और टोपी का नाम अलग-अलग भले ही हो, काम एक ही है। नौकरी की मंजिल का पासपोर्ट है। नौकरी की मंजिल के अनेक चोर दरवाजे हैं जो नकद दाम देने से ही खुलते हैं। रिश्तत ही इन चोर

दरवाजों की चाबी है। रिश्तत चाबी का नहीं, बल्कि चूहे का काम करती है। रिश्तत के चूहे दुकानों से लेकर दुस्तरों तक में अपने बिल बनाये हुए हैं, सारे समाज में रिश्तत के चूहों ने अष्टाचार का प्लेग फैला रखा है। रिश्तत के चूहे तिजोरियों में लगे हैं, नोट खा रहे हैं, डिग्रियाँ खा रहे हैं, इंसानियत खा रहे हैं। चूहे की तरह समाज को खोखला करने वाला रिश्तत का यह सत्य आप पेट में ही रखिये, हाजमे की चीज़ है।

नौकरी की तलाश का रास्ता कितना खतरनाक है, देखा आपने! नौकरी की तलाश करना भीख माँगने जैसा ही धन्धा है। बेकार ग्रेजुएट और भिखारी में ज्यादा फर्क नहीं है। भिखारी अपने आपको पशु समझकर भीख माँगने निकलता है और बेकार ग्रेजुएट सुसंस्कृत इन्सानियत की डिग्री लेकर नौकरी माँगने निकलता है। मतलब यह कि बेकार ग्रेजुएट एक सभ्य भिखारी के सिवाय और कुछ नहीं है। मुझे भिखारियों से सख्त नफरत है, अपने आप से नफरत है, मैं भीख नहीं माँगूंगा... मैं नौकरी न सही मजदूरी कर सकता हूँ, रिक्शा चला सकता हूँ... पान की दुकान खोल सकता हूँ। जी हाँ जो आमदनी पान की दुकान में है वह बड़ी बड़ी नौकरियों में कहीं? पान की दुकान खोलने के लिए भी थोड़ी सी पूँजी चाहिए वरना अभी तक किसी चौराहे पर ठेला चला देता। एक तरकीब और है, गुरुआ धारण कर साधुओं की जमात में शामिल हो जाना। हमारे देश में साधू कभी भूखा नहीं मरता। साधुगिरी बादशाहत है, किसी को नौकरी नहीं, कोई काम नहीं। जहाँ जाओ भूनी रमा दो, प्रसाद चढ़ने लगेगा।

आजकल लोगों से मिलना मुश्किल हो गया है मित्रों नहीं कि बस चाँटि की तरह (शेष पृष्ठ १४ पर)



रवीन्द्रनाथ का बाल चित्रण

माया गुप्त

कवीन्द्र रवीन्द्र के शिशु चित्रण में जो बात सब से अधिक आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है, वह है शिशुओं के प्रति कवि की गहरी संवेदना। रूढ़िग्रस्त समाज में शिशु और किशोर को एक संकुचित क्षेत्र में सीमित रखा जाता है। यह बात कवि के मर्मस्थल में चुभ गई और उनका हृदय विद्रोही बन गया। यही कारण है कि रवीन्द्र के बालक स्वभाव से ही मुक्त, स्वच्छन्द विचरण करने वाले पात्र हैं, यद्यपि वे हैं बालक ही।

आसमान में उड़ते हुए मुक्त पक्षी से रवीन्द्र के शिशु की तुलना की जा सकती है। यदि उसे बाँध कर न रखा जाए, 'नहीं, नहीं,' की रट लगाकर उसे रोक न दिया जाए, यदि उसकी स्वतन्त्र इच्छाओं को 'क्या करो, क्या न करो' की चहारदीवारी के अन्दर बन्द न किया जाए, तो क्या बालक के चरित्र का गठन न होगा? क्या तब वह किशोर बिगड़ जाएगा?

इस समस्या को लेकर कवि ने 'गुरु' या 'अचलायतन' की सृष्टि की थी। समाज के

'अचलायतन' को तोड़कर किशोर पंचक गाता है :

आर नहे आर नय

आमि करि ना आर भय ।

आमार घुचलो बाँधन फलजो साधन

हलो बाँधन जय ।

ओई आकाशे ओई डाके

आमाय आर के घरे राखे

आमि सकल दुआर खुलेछि आज

जाबे सकल मय ।

(अब मुझे कोई भय नहीं है, मेरा बन्धन टूट गया, मैं सार्थक हो गया। आसमान मुझे बुला रहा है। अब मुझे कौन रोक सकता है? समस्त द्वार खोलकर मैं सारे संसार में मिल जाऊँगा।)

मनुष्य बचपन से ही सब बन्धनों से मुक्ति की कामना करता आया है। इसी कामना को कवि ने एक बार 'डाकघर' नाटक के अमल के करुण स्वर से मुखरित कर दिया है। शिशु प्रकृति के प्राण हैं और प्रकृति शिशुओं का प्राण है। विश्व के प्रति पूर्ण विश्वास और निर्भरता

को लेकर शिशु और किशोर मुक्त रूप से छोटी सृष्टि को जानना चाहता है और हाथ फैलाकर उसे अपनाने के लिए ब्याकुल हो उठता है। बालक के निकट एक साधारण दही बेचने वाले की आवाज़ का महत्त्व एक पर्वत से किसी तरह घट कर नहीं है।

बालक जब छोटा होता है तब वह बड़ा होना चाहता है। उसकी अभिलाषा रहती है कि वह अपने पिता, बड़े भाई अथवा गुरु के समान हो जाए। वे उसके आदर्श होते हैं। यह तो एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। रवीन्द्रनाथ की 'शिशु' नामक कविता-पुस्तक में 'छोटो बड़ो' कविता उसी सहज स्वाभाविक इच्छा की एक शिशु सुलभ कल्पना है :

आमि जे दिन प्रथम बड़ो हबों

मा से दिने गंगास्नानेर परे

आसबे जखन खिचकि दुआरे दिये
भाबबे केनो गोल सुनिने घरे।

आमि तखन चाबी सुलते शिखे

जतो इच्छे टाका दिच्छि भिके

मा देखे ताई बोलबे ताड़ताड़ि

खोका तोमार खेला केमन तरो।

आमि बोलबो माईने दिच्छि भिके

हयेछि जे बाबार मतो बड़ो

फुरोय जदि टाका फुरोय खाबार

जतो चाह मा एने देवो आबार।

(जिस दिन मैं पहले पहल बड़ा होऊँगा, उस दिन जब भोर में मैं गंगा स्नान करके पिछले दरवाज़े से घर लौटूँगी, तो वह अवाक रह जाएँगी कि मैं रोज़ की तरह शोर-गुल क्यों नहीं मचा रहा हूँ और इतना चुपचाप क्यों बैठा हूँ ? मैं तो उस समय चाबी से ताला खोलना सीख कर महरी को जितना जो मैं आप उतने रुपये दे रहा हूँ। नाराज़ होकर माँ पूछेगी—सुन्ना यह कैसा खेल है ?

मैं कहूँगा महरी को तनस्वाह दे रहा हूँ,

अब तो मैं पिता जी के समान बड़ा हो गया हूँ। रुपया, अनाज यदि चुक जाए तो, जितना चाहो माँ, मैं फिर से ला दूँगा।)

शिशु सोचता है कि किसी दिन सवेरे उठकर वह अपने आपको पिता के समान लम्बा-चौड़ा पाएगा।

उसी पुस्तक की 'वनवास' कविता में रामायण की कथा सुनकर बच्चे की कल्पना जाग उठती है। घर से बाहर कहीं दूर भागने के लिए वह ब्याकुल है। उसके लिए माँ से यह प्रार्थना स्वाभाविक है :

मा गो अमाय देना देना

एकटि छोटी भाइ

दुइ जनेते मिले आमरा

बने चले जाई।

(अर्थात् माँ मुझे एक नन्हा सा भाई दे, हम दोनों मिल कर घन में चले जायँ।)

माता के हृदय में बालक की इस प्रार्थना की क्या प्रतिक्रिया होगी, कवि ने यह संवेदनशील पाठक के ऊपर ही छोड़ दिया है।

शिशु और बालकों के प्रति एक प्रगाढ़ ममता रवीन्द्रनाथ की कहानियों में देखी जाती है। 'खाता' (कापी) नामक कहानी में एक बालिका उमा का दुःख बड़े ही दर्द भरे ढंग से चित्रित किया गया है। उमा के पास एक कापी थी, जिसमें वह शैशव काल से ही अपने हृदय की बातें, जो कही नहीं जा सकती थीं, लिखा करती थी। अपराध हो जाने पर वह सन्तप्त बालिका लिखती थी—अब ऐसा नहीं करूँगी। अथवा किसी सहेली से झगड़ा हो जाने पर वह अपनी कापी में लिखती थी—अमुक सहेली को मैं प्यार नहीं करती। और जब फिर उस सहेली से सुलह हो जाती तो वह लिखती थी—अमुक लड़की बड़ी अच्छी है, उसे मैं अपनी गुड़िया दे दूँगी। कम उम्र में विवाह हो जाने पर उसने एक दिन पीहर में एक जोगन को

देवी दुर्गा के नैहर आने का अगवानी या स्वागत गान गाते सुना। सुनकर उसका दिल नैहर के लिए ज़रूर तड़पा होगा। वह अपने कमरे में किवाड़ बन्द कर गीत लिख ही रही थी कि उसकी ननदों ने देख लिया। उसके इस अपराध पर उसका पति उससे वह काफी छीन लेता है और वह बेचारी उमा लज्जा और दुख से अपने मुँह को दोनों हथेलियों से ढक कर छिपा लेती है। उस ज़माने में लड़कियों को पढ़ाया-लिखाया नहीं जाता था। उमा को अपने माता-पिता के घर में थोड़ा-बहुत लिखना पढ़ना आ गया था। उसका पति हृदयहीन कट्टरपंथी विद्वान था, जो अपनी विद्या की हरदम चर्चा करता था पर स्त्रियों को पढ़ने-लिखने से रोकता था। उसकी धारणा थी कि इससे उनकी कर्त्तव्यपरायणता में कमी आ जाएगी। उसने उमा के हाथ से कापी छीनी तो रवीन्द्रनाथ ने मंतव्य दिया कि उसकी भी सूक्ष्म तत्वों से कंटकित विविध निबन्धों वाली एक कापी थी, किन्तु उसे छीन कर नष्ट कर दे—ऐसा मानव हितैषी कोई नहीं था।

उमा एक ऐसी लड़की है जो कोमल और असहाय है। उसके हृदय में सुख-दुख का जो तूफान उठता है, उसकी खोज-खबर लेने वाला इस संसार में कोई नहीं है।

‘सम्पादक’ कहानी में प्रभा नामक एक बालिका का चित्रण है जो स्नेह, ममता, कर्त्तव्य का प्रतीक है। जब उसके पिता ने उस मातृहीन कन्या को और अधिक स्नेह से पालने के कर्त्तव्य का अनुभव किया तो बालिका भी अपनी ओर से परम यत्न से अपने पत्नी-हीन पिता की रक्षा करने के काम में जुट गई और उनकी देखभाल उसने अपने ऊपर ले ली। पिता यदि उसके कभी एक गिलास पानी अपने हाथ से ले लेते, तो वह नाराज हो जाती थी, मानो यह

उसके अधिकार में कोई हस्तक्षेप था। यह बालिका पिता के दुख को समझती थी और जी-जान से उसकी सेवा करती थी। उसकी सेवा में करुणा और पितृप्रेम का एक अनोखा और अपूर्व सम्मिश्रण है।

‘अतिथि’ नामक कहानी में चारु एक जमींदार की इकलौती लाडली बेटी है। जब तारापद नामक एक बालक उसकी नाव में आकर जमींदार की पत्नी के लड़के के समान रहने लगा तो चारु के मन में जो प्रतिक्रिया हुई, उसे उन्होंने बड़े यथार्थवादी रूप में चित्रित किया। बालिका तारापद को ईर्ष्या की दृष्टि से देखने लगी, क्योंकि माता-पिता के स्नेह में तारापद ने भी हिस्सा बाँट लिया था। इसके बाद जब चारु ने अपनी सहेली से यह सुना कि तारापद उसके यहाँ भी आने-जाने लगा है, तो सहेली पर वह बहुत बिगड़ी। बड़े घर की लड़की का स्वभाव सचमुच ही इसी प्रकार का होता है। तारापद को वह एकमात्र अपनी ही सम्पर्क समझती है। उसे अपने माता-पिता द्वारा स्नेह मिलने पर उसमें विद्रोह उठता है, पर वह स्वयं तारापद को प्यार करती ही है। अतः यदि कोई अन्य व्यक्ति तारापद के पास पहुँचता है, तो वह यह सहन नहीं कर पाती।

‘पोस्टमास्टर’ कहानी में रतन एक अनाथ लड़की है। वह पोस्टमास्टर के यहाँ कुछ काम-धाम करती थी और उनके सहृदय व्यवहार से उसका भोला मन पोस्टमास्टर के बहुत पास आ गया था। जब पोस्टमास्टर को अन्यत्र जाना पड़ता है, तो विदाई के क्षण के निकट आते ही वह लड़की दौड़ कर उनके सामने से भाग जाती है। एक सामान्य अवोध लड़की का करुण मुख जैसे एक विश्वव्यापी विराट मर्मव्यथा को प्रकाशित कर देता है। शिशु चाहे (शेष पृष्ठ ७१ पर)

प्राचीन भारतीय वाद्ययंत्र

कृष्णदत्त वाणपेयी



प्राचीन भारत में संगीत के विविध रूपों के उसी प्रकार विभिन्न देशी भाषाओं में बहुसंख्यक बाजों के नाम मिलते हैं ।

प्रचलन का पता मुख्यतया पुराने साहित्य और कलावशेषों से चलता है। संगीत के अंतर्गत गीत, वाद्य, नृत्य और नाट्य ये चारों थे। जहाँ तक वाद्ययंत्रों का सम्बन्ध है, उनके उल्लेख वैदिक काल से ही मिलने लगते हैं। वैदिक साहित्य में वीणा, वाण, नादी, दुंदुभि, बाकुर आदि बाजों के नाम मिलते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में वीणा, भट्टुक, भर्भर तथा दुर्दुर नामक बाजों के नाम दिए हैं। वात्सीकीय रामायण और महाभारत में कई प्रकार की वीणाओं तथा दुंदुभि, पटह, मृदंग, भेरी, पणव आदि बाजों के नाम मिलते हैं। संगीत ग्रन्थों तथा भरत नाट्यशास्त्र, शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर', अहोबिल कृत 'संगीत पारिजात' आदि में अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों के नाम और उनके वर्णन दिए हैं। पुराणादि ग्रन्थों तथा परवर्ती संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में भी अनेक वाद्य वर्णित हैं।

प्राचीन साहित्य में जिन-जिन वाद्ययंत्रों के नाम मिले हैं, उन सबके ठीक स्वरूप का पता नहीं है, जिससे अब अनेक बाजों के नाममात्र शेष हैं। सौभाग्य से बहुत से वाद्यों के मूर्तरूप प्राचीन स्थापत्य की कृतियों में तथा पाषाण, मिट्टी, धातु आदि की पुरानी मूर्तियों और सिक्कों पर सुरक्षित हैं। संगीत प्राचीन लोक जीवन का एक मुख्य अंग था। पुरानी कला-कृतियों में जहाँ कहीं मनोरंजन के दृश्य मिलते हैं, वहाँ संगीत का चित्रण भी मिलता है। मनोरंजन का साधन होने के अतिरिक्त संगीत का धार्मिक रूप भी था। पूजा-पाठ, धार्मिक यात्रोत्सवों आदि में संगीत का अनिवार्य स्थान था। यही कारण है कि प्राचीन संदिरों और मूर्तियों में संगीत को अपेक्षित स्थान दिया गया।

वाद्ययंत्र मुख्यतया चार प्रकार के हैं। डोरी या तन्तु से बजने वाले 'तत वाद्य', हवा के

दबाव से बजने वाले 'सुषिर वाद्य', चमड़े से मढ़े हुए 'अवनद्ध वाद्य' और चोट से बजने वाले ठोस 'घनवाद्य'। प्राचीन भारतीय शिल्प में ये चारों प्रकार के बाजे मिलते हैं।

प्रथम प्रकार के वाद्यों में वीणा का स्थान प्रमुख है। साहित्य में वीणाओं के कई रूप और नाम मिलते हैं जैसे—एकतन्त्री, त्रितन्त्री, पंचतन्त्री, चित्रा, विपंची, मत्तकोकिला, किन्नरी आदि। प्रायः तारों की संख्या के आधार पर ये नाम दिए गए थे, एक तार वाली 'एकतन्त्री', तीन तारों वाली 'त्रितन्त्री' आदि। भरत नाट्यशास्त्र में सात तार वाली वाद्या को 'चित्रा' या 'परिवादिन' और नव तार वाली को विपंची कहा गया है। प्राचीन कला में प्रायः सात या पाँच तार वाली वीणा मिलती है। अमरावती, मथुरा, अजन्ता आदि की कला में ऐसी वाणाएँ मिली हैं। कहीं उन्हें अँगुलियों से बजाते हुए दिखाया गया है, तो कहीं छोटी डंडी या 'कोण' द्वारा। गुप्तवंशी सम्राट समुद्रगुप्त के एक सोने के सिक्के पर उन्हें सप्त तन्त्री वीणा बजाते हुए दिखाया गया है।

सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत वेणु या वंशी, मुखवीणा, तुरही, शंख आदि आते हैं। वंशी या बौंसुरी प्रायः बौंस की बनी होती थी। कभी-कभी धातु की भी बौंसुरी बनाई जाती थी। मथुरा की कला में पुष्पित वृक्षों के नीचे वंशी बजाती हुई स्त्रियों के कई चित्रण हैं, जो ई० पहली-दूसरी शताब्दी के हैं। अमरावती की कला में भी पतली लम्बी बौंसुरी मिलती है। खजुराहो, कोणार्क तथा दक्षिण भारत की कला में मोटे आकार वाली वंशी मिलती है। कहीं-कहीं उसका रूप वर्तमान अलगोजो जैसा है। सौची की एक कलाकृति में आधुनिक मुखवीणा या तुरही के ढंग के दो बाजों को मुँह से बजाता हुआ शक जाति का एक पुरुष दिखाया गया है। कोशाम्बी से प्राप्त कुषाण कालीन मिट्टी की एक

मूर्ति पर इसी प्रकार का बाजा दिखाया गया है। सौची की उक्त कलाकृति पर बक्री या नरसिंहा जैसा लम्बा बाजा बजाता हुआ दूसरा शक व्यक्ति अंकित है। यह कलाकृति ई० पूर्व पहली शताब्दी की है। विन्ध्यप्रदेश में भूमरा के गुप्तकालीन शिव मंदिर में शहनाई और सिंगी बजाने वाले मिले हैं। ये चोटीदार टोपी, पायजामा और कोट पहने हैं, जो विदेशी शक लोगों की वेशभूषा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के बाजे बजाने में शक लोग विशेष प्रवीण होते थे और उन्हें वादक के रूप में नियुक्त किया जाता था। प्राचीन कला में शंख कई प्रकार के मिलते हैं। पूजा में तथा धार्मिक यात्रोत्सवों में शंख का अधिक प्रयोग होता था। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन शिलापट्ट पर यात्रोत्सव में जाते हुए नर-नारी दिखाए गए हैं। उनमें डफ, शंख आदि बजाते हुए कुछ लोग हैं। अमरावती से प्राप्त दूसरी शताब्दी की एक मूर्ति पर शंख के पतले छोर को धातु की एक नली से जोड़ कर बजाने का दृश्य है।

चमड़े से मढ़े हुए अवनद्ध वाद्यों में मृदंग मुख्य था। भारतीय साहित्य और कला में मृदंग के अनेक रूप मिलते हैं। गोद में या जाँघों पर रखकर बजाया जाने वाला छोटा मृदंग अथवा मृदंग कहलाता था। ग्वालियर के पास पवाया नामक स्थान से प्राप्त एक कलाकृति पर इसका चित्रण है। अमरावती की कला में भी यह मिलता है। पखावज के ढंग के लम्बे मृदंग को, जिसका एक सिरा ज़मीन पर रखकर दूसरे सिरे को बजाते थे, ऊर्ध्वक मृदंग कहलाता था। प्रायः इसे दो की जोड़ी में बजाया जाता था। पवाया की उक्त मूर्ति में यह बाजा भी दिखाया गया है। अमरावती में भी यह मिला है। तीसरा मृदंग आलिंग्यक मृदंग कहलाता था, जिसे बाईं बगल में दाब कर बजाते थे। यह लम्बे और पतले आकार का

होता था। अजन्ता की चित्रकला में इस प्रकार का मृदंग मिला है।

दुर्दुभि और पण्ड बाजे भी कई तरह के मिले हैं। राजस्थान के कोटा जिले से लघु आकार का ताशेनुमा पण्ड मिला है जिसे तन्त्री, पटीका कहते थे। यह डोरी से गले में लटका कर वाद्य के आकार की पतली डंडी से बजाया जाता था। अमरावती में गोल आकार का मृदल नामक मृदंग मिला है, जिसे टेढ़ी डंडी से बजाया जा रहा है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भट्टुक नामक एक बाजे का उल्लेख है, जो संभवतः यही था। पाणिनि ने दुर्दुर नामक

एक दूसरे बाजे के बजाने वाले दादुरिक का भी उल्लेख किया है। दुर्दुर शायद मिट्टी के बर्तन का बना मृदंग था। इस तरह के बर्तन वाद्य भौंड कहलाते थे। मादिलग नामक बाजा इसी श्रेणी में आता है।

ढोल, भेरी तथा पखावज की तरह के मृदंग उड़ीसा, राजस्थान

और दक्षिण भारत के शिष्ट में बहुत मिलते हैं। इन्हें गले से लटकाकर बजाया जाता था। साँची की कला में भी मृदंग मिले हैं। गोलाकार बड़ा डफ मथुरा की एक कल्याण कलाकृति पर मिला है। डमरू तथा डिमडिमा हुडुक्क या आवाज नामक बाजे भी कला में उपलब्ध हैं। भूमरा के गुप्तकालीन शिव मन्दिर में हुडुक्क बजाते हुए एक व्यक्ति दिखाया गया है।

चौथे प्रकार के बाजे धनवाद्य कहलाते हैं। जो कौंसे, पीतल, लकड़ी आदि के बने होते हैं। कौंसे के बने बाजों का प्रचलन पहले अधिक था। 'संगीत दामोदर' ग्रंथ में इन वाद्यों

के नाम करताल, कौंस्य ताल, जय वन्टा, श्रुतिका, घर्घरा, भन्भा ताल, मंजीरा आदि मिलते हैं। उड़ीसा के प्रसिद्ध कोणार्क स्थान में कांस्यताल या भौंभ बजाती हुई एक युवती का सुन्दर आलेखन है, जो ईसवी तेरहवीं शताब्दी का है। मंजीर भारतीय कला में बहुत मिलते हैं। मथुरा, भारहुत, अजन्ता, पवाया आदि की कलाकृतियों में इनके चित्रण हैं। भल्लरी या भालरि उड़ीसा की कलाकृतियों में मिली है। यह तौंबे या पीतल की बनी गोल आकार की होती है। इसे लकड़ी की मोंगरी या चबियावल से बजाया जाता है।

..... संगीत प्राचीन लोक जीवन का एक मुख्य अंग था। पुरानी कला कृतियों में जहाँ कहीं मनोरंजन के दृश्य मिलते हैं, वहाँ संगीत का चित्रण भी मिलता है। मनोरंजन का साधन होने के अतिरिक्त, संगीत का धार्मिक रूप भी था। पूजा-पाठ, धार्मिक यात्रोत्सवों आदि में संगीत का अनिवार्य स्थान था। यही कारण है कि प्राचीन मंदिरों और मूर्तियों में संगीत को अपेक्षित स्थान दिया गया।.....

काष्ठताल या कठ-

ताल भी प्राचीन कला में मिलता है। एक-एक और कभी दो-दो लकड़ी के टुकड़े हाथों में लेकर बजाए जाते हैं। लकड़ी या काठ के बने होने के कारण इनका नाम काष्ठ-ताल या कठताल हुआ। जायसी ने पद्मावत में इन्हें धनतारा कहा है। इन्हें आजकल टिपरी भी

कहते हैं। मध्यभारत की बाघ गुफा से उत्तर गुप्तकालीन एक चित्र में नर्तक के साथ कठताल बजाती हुई कई स्त्रियाँ दिखाई गई हैं।

इस प्रकार प्राचीन कला में हम अनेक वाद्यों का चित्रण पाते हैं। उनके बजाने वालों की विविध प्रकार की वेशभूषाएँ मिलती हैं। प्राचीन साहित्य में वर्णित कुछ वाद्य यन्त्र ऐसे हैं जो स्थापत्य या मूर्तिकला में नहीं मिलते। हो सकता है कि इन कलाकृतियों के निर्माण काल में ऐसे वाद्यों का चलन न रहा हो या बहुत कम रहा हो। भारतीय कला में वाद्यों का अंकन लगभग ईसवी पूर्व दूसरी शती से मिलने

जगता है और उसके बाद बराबर जारी रहता है।

अन्त में सामूहिक वादन वा आर्केस्ट्रा का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्राचीन कलाकृतियों में इसके कई जगह दर्शन मिलते हैं। सामूहिक वादन का विशेष नाम तूर्य था। उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक वादक को तूर्यांग कहते थे। तूर्य में मुख्यतया पाँच बाजे बजाने वाले होते थे। नगाड़ा या पण्ड, नादी, गुंजा, तुरही और शंख ये पाँचों वाद्य 'पंचशब्द' कहलाते थे। सेना के प्रयाण के समय, पुत्र-जन्म, विवाहोत्सव आदि में ये पंचशब्द बजते थे। परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों ने भी पंचशब्द का उल्लेख किया है। इन्हें प्रायः राजा या उच्च वर्ग के लोग ही बजवा सकते थे। इसी का परिवर्द्धित रूप मुगलकालीन नौबत है।

भारहुत, पवाया, मथुरा आदि की कला में सामूहिक वादन के चित्रण मिलते हैं।

भारहुत में इसवी पूर्व प्रथम शती की एक कलाकृति पर कई बाजे बजाने वाली एवं गायिकाएँ तथा पाँच नाचने वाली स्त्रियाँ दिखाई गई हैं। बाजों में दो वीणाएँ, मृदंग मँजीरा आदि हैं। इन कलाकृतियों पर तत्कालीन ब्राह्मी लिपि में एक लेख लिखा है। सैद्धिक सम्भंद तूर देवान् अर्थात् देवताओं के भवन में वाद्ययन्त्रों तथा मौखिक संगीत का सप्तक प्राचीन सप्तक वा आपेरा के रूप का अनुमान इससे लगाया जा सकता है। पवाया के गुप्तकालीन कलावशेष पर नर्तकी के चारों ओर वीणा, वंशी, दो प्रकार के मृदंग, मँजीरा आदि बजाती हुई स्त्रियाँ दिखाई गई हैं। वे एक राजकुमारी का, जो ऊँचे आसन पर बैठी है, मनोविनोद कर रही हैं। मथुरा, अमरावती, अजन्ता आदि की कला में भी सामूहिक वादन के चित्रण मिलते हैं, जो बड़े मनोरंजक हैं।

—लखनऊ से प्रसारित

रवीन्द्रनाथ का बाल चित्रण—[पृष्ठ ६७ का शेषांश]

रोये, चाहे चुपचाप रहे—पर उसका दुख उस के चेहरे पर छा जाता है। शिशु सुसंबद्ध भाषा में अपनी व्यथा को व्यक्त नहीं कर सकता है। रतन जैसे अनेक पात्रों की सृष्टि रवीन्द्रनाथ ने की है, जो दीर्घकाल तक पाठक की आँखों को सजल बनाए रखते हैं। शिशु के दुख, उसकी व्यथा को कवि ने अपने अन्दर अनुभव किया। यही कारण है कि उनके अधिकांश शिशु चित्र करुण हैं।

शायद यही कारण है कि कबीन्द्र ने शान्ति निकेतन आश्रम की स्थापना की थी, जहाँ पर बालक-बालिकाएँ मुक्त आकाश के नीचे खेल

के साथ-साथ शिक्षा प्राप्त कर सकें। वे बच्चों को परम स्नेह की दृष्टि से देखते थे। बालक-बालिकाओं को डौटना, अपमानित करना उनके लिए असहनीय था। उनके अपने हृदय में उनके लिए सदा प्यार, क्षमा और विश्वास था। रवीन्द्रनाथ से मिलने का जिन्हें सौभाग्य मिला, वे भली भाँति यह जानते हैं कि कबीन्द्र का हृदय भी आजीवन एक शिशु के हृदय की तरह सरल श्रद्धावान और कौतूहल से भरा हुआ था। उनमें बच्चों की तरह कौतुकप्रियता भी थी, इसीलिए उन्हें शिशु चरित्रों के चित्रण में सफलता मिली।

—दिल्ली से प्रसारित

अपराधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

एल० एस० शुक्ल

आज के युग में, जबकि समस्याएँ अधिक जटिलता ग्रहण कर चुकी हैं और उनके सुलझाने के लिए विभिन्न प्रकार के कानूनों का निर्माण हुआ है और उन कानूनों का उल्लंघन अपराध कहलाता है—तो समाज हित की दृष्टि से उन अपराधों के उन्मूलन के लिए उनके निमित्त का अन्वेषण विशेष जिज्ञासा और आकर्षण का विषय बन जाता है।

अपराधों से समाज को गौण लाभ हो सकता है। अपराध के भय से समाज के अन्य सदस्य एक सूत्र में बँध कर कुछ समय तक संगठित रह सकते हैं। देश, काल व परिस्थिति अन्य सामाजिक बुराईयों अपराधों का कारण हो सकती हैं, परन्तु अपराध समाज सुधार की दवा नहीं हो सकते। इसलिए कोई भी विवेकी मनुष्य सामाजिक दृढ़ता के लिए युद्ध पसन्द नहीं करेगा। अतएव अपराध का परिणाम समाज के लिए घातक सिद्ध होता है। समाज सुधार आवश्यक है, परन्तु अपराध अनावश्यक है। इसलिए अपराधों की रोक-थाम के लिए—चूँकि शासन का कर्तव्य नागरिकों के धन-जन की सुरक्षा करना है—राष्ट्रीय धनराशि का बहुत बड़ा भाग अपराधी को पकड़ने और उसे दण्ड दिलाने में खर्च होता है। परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि जब कभी अपराध होता है, तो हमारा ध्यान केवल इस ओर जाता है कि अपराध किसने किया है और क्या अपराध किया है? आज की शासन व्यवस्था में भी इसी प्रकार की विधि है कि अपराधी को पुर्जिस पकड़कर दंड

दिलाने में कटिबद्ध हो जाती है और न्यायालय में केवल इसी बात पर विचार किया जाता है कि अपराध कर्ता ने अपराध किया है या नहीं? यदि अपराध हुआ है तो कौनसा? और सिद्ध होने पर उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। अपराधी को दण्ड दिखाकर कुछ अंश तक दण्ड के भय से अपराध निरोध अवश्य हो सकता है। परन्तु अपराध होने के कारण फिर भी अस्पष्ट रहते हैं।

एक समय था जब भारतवर्ष में अपराध जैसी चीज़ नहीं थी। इस बात का उल्लेख चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने किया है। उसने लिखा है कि यहाँ के लोग अपने घरों में ताले नहीं लगाते। परन्तु आज अपराधों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

अपराध सामाजिक दुर्ब्यवस्था का भी कारण है। मनोवैज्ञानिक देवज्ञाक हजिस का कहना है कि 'अपराध सामाजिक उन्नति का दर्पण है।' परन्तु अन्य कई मनोवैज्ञानिक इस कथन से असहमत हैं और उनके मतानुसार 'समाज के क्रान्तिकारी परिवर्तन के समय अपराध को प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं, क्योंकि बहुत से लोग जब उन परिवर्तनों के साथ नहीं चल सकते तो अपराध करते हैं।' यह अंश कुछ हद तक सही है, क्योंकि जब समाज स्थिर होता है तब अपराध कम होते हैं। परन्तु सामाजिक उन्नति के साथ-साथ अपराध के प्रकार और तरीके भी बढ़ जाते हैं। अमेरिका आज संसार का सबसे उन्नत देश गिना जाता है, परन्तु वहाँ की

अपराधिक रिपोर्ट पढ़ने पर वहाँ की अपराधिक प्रवृत्तियों और तरीकों को जानकर हम आश्चर्य बकित हो जाते हैं। जो मस्तिष्क शक्ति एक सुसंगठित तरीके से अपराध करने में खर्च हुई, यदि उसी का उपयोग किसी योग्य कार्य में किया गया होता, तो वह देश व समाज के लिए लाभदायी सिद्ध होता। इसलिए अमेरिका में आजकल अपराध निरोध के लिए अपराध के कारणों को जानने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। यद्यपि भारतवर्ष में साधनों की कमी है, परन्तु प्रोत्साहन देकर विशेषज्ञों को सरकार इस ओर आकर्षित कर सकती है और बहुत सी सामाजिक समस्याएँ हल हो सकती हैं।

यद्यपि अपराध जानने के लिए बहुत सी विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं, परन्तु अपराध क्यों हुआ और कौन-सी ऐसी बात है जो अपराध करने में सहायक हुई, यदि हम जान लें तो भी समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है।

जब कभी कोई अपराध होता है तो उसमें प्रत्येक अवस्था के स्त्री-पुरुष हो सकते हैं। मनुष्य पैदा होने के पश्चात्, जब तक कि वह सामाजिक नियमों को समझने में असमर्थ होता है, व्यवहार ईश्वर प्रदत्त शक्तियों के अनुसार करता है जिन्हें नैसर्गिक प्रवृत्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए एक बालक यदि किसी दूसरे बालक के हाथ में कोई आकर्षक रूमाल देखे, जो उसकी ईश्वर प्रदत्त शक्ति को उत्तेजना प्रदान करता हो और वह दूसरे बालक के नजदीक होने की स्थिति में हो, तो वह उससे रूमाल छीन लेने की ओर प्रेरित होगा। यदि यही छीन लेने की प्रवृत्ति सज्जन और वयस्क में पाई जाती है तो उसे चोर और डाकू के नाम से तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु बालक का कृत्य इसलिए क्षम्य होता है कि बालक में सचेत रूप से चिन्तित पहुँचाने का उद्देश्य नहीं रहता, परन्तु वयस्क में उसकी अवस्था के विकास के साथ-

साथ सामाजिक नियमों का ज्ञान भी हो जाता है। इसलिए मनुष्य जो कुछ भी होता है वह एक तो प्रकृत शक्तियों के कारण और दूसरे वातावरण के कारण जिसमें कि वह पोषित होता है। प्रकृत शक्तियाँ व्यवहार की प्रेरक होती हैं। परन्तु वातावरण उस व्यवहार को अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है। मनोविज्ञान की इस पृष्ठभूमि में यदि हम अपराध को देखें, तो हमें पहले यह जानना होगा कि वह कौन सी शक्ति है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य अपराध करता है और वह कौनसा वातावरण है जो अपराधी बनने में सहायक होता है ?

मनुष्य के असाधारण व्यक्तिगत लक्षण, असाधारण भौतिक स्थिति और समाज का वह साधारण परिवर्तनशील संस्कार—जिसमें कि व्यक्ति पोषित होता है—अपराध के कारण हैं। यही व्यक्तित्व को बनाने वाले तत्व हैं।

व्यक्तिगत लक्षणों को जानने के लिए अपराधी की वंशावली का अध्ययन करना होगा। परन्तु यह सर्वमान्य है कि मनुष्य की मानसिक निर्बलता और उसकी विचारधारा की अस्थिरता (जबकि संस्कार बलवान नहीं होते) स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर सदाचरण से विमुख होने के लिए बाध्य करती है।

मनुष्य की प्रकृति से तात्पर्य उसको गुण तथा अवगुण प्रदान करने वाली शक्तियों से है, जो कर्त्ता को पित्रागत प्राप्त होती हैं। यह उस समय निश्चित हो जाता है जबकि बालक माता के गर्भ में होता है। परन्तु इन शक्तियों के विकास के लिए बाहरी वातावरण की आवश्यकता होती है। विभिन्न शक्तियों को विभिन्न अनुकूल तथा प्रतिकूल वातावरण मिलने पर, उनमें प्रभाव के अनुसार विकास होता है। जैसे दो बालक एक ही वैज्ञानिक शक्तियों के उत्पन्न हों और उनमें से एक का वायुमंडल ऐसा हो जहाँ वैज्ञानिक रहते हों, विज्ञान-

शालाएँ हों, तो बालक विज्ञान में असाधारण उन्नति करेगा। परन्तु दूसरा जिसे प्रतिकूल वातावरण मिलता है, विज्ञान में रुचि होते हुए भी, अवरुद्ध रहेगा। परन्तु व्यक्तिगत लक्षणों के कारण कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि अनुकूल वातावरण होते हुए भी बालक ऐच्छिक उन्नति न कर सके।

अपराध करते समय अपराधी की मानसिक शक्तियाँ प्रतिकूल रहती हैं, अथवा अपराध के पश्चात् प्रतिकूल हो जाती हैं—यह अपराध करने के लिए कोई वैकल्पिक स्पष्टीकरण नहीं है।

मनुष्य अपने जिन असाधारण परिवर्तन-शील संस्कारों में पलता है, वे उसके आपराधिक आचरण को प्रभावित करते हैं। यदि हम मध्य प्रदेश के डाकुओं की समस्या का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि जो अपराधप्रिय जातियाँ विद्यमान हैं, उनका आर्थिक गठन नहीं होने से अर्थात् जीवन उपयोगी साधन नहीं होने से उनके लिए सिवाय आपराधिक जीवन बिताने के अन्य कोई सुलभ तरीका उन्हें उपलब्ध नहीं होता। इसलिए ऐसी जातियों में एक के पश्चात् दूसरा अपराध करने वाला पैदा होता रहता है।

अपराधप्रिय जातियों में विशेषकर कंजर, साँधी और साँसी इत्यादि प्रमुख हैं। कंजर जिन्हें शारीरिक दुर्बलता और अविकसित मानसिक शक्तियों के साथ स्वस्थ संस्कार का वायुमंडल उपलब्ध नहीं होता, उनकी आपराधिक शक्तियाँ विकास पाती रहती हैं और भौतिक तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ विशेषतः अपराध करने में सहायक और प्रेरक होती हैं। मध्य प्रदेश के भियड, मुरैना जैसे पिछड़े क्षेत्र जहाँ के लोगों की आर्थिक दशा गिरी हुई है और जहाँ आस-पास उत्तर प्रदेश के उपजाऊ और धनवान क्षेत्र हैं अपराधियों को प्रेरणा प्रदान करते हैं और उस क्षेत्र के नदी व जंगल अपराधियों को छिपने का

अवसर देते हैं। अपराधप्रिय जातियों के अपराधों को रोकने के लिए शस्त्रों की शक्ति की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उसका वास्तविक हल उस क्षेत्र के निवासियों का आर्थिक विकास करने में और उनके संस्कारों को सदाचरण की ओर मोड़ने में है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से अपराध विकास के और भी कारण हैं। यदि मनुष्य को अपराध करने की सुविधा और प्रोत्साहन मिलते रहें तो आपराधिक वृत्ति अधिकाधिक बढ़ती है और उनकी पुनरावृत्ति भी होती है। जैसे यदि कोई निर्दोष बालक किसी कारण से किसी अपराधी के सम्पर्क में रहे तो उस बालक को प्रथम अपराध के प्रयास में नैतिकता के कारण कुछ हिचकिचाहट होगी। परन्तु एक बार सफलता प्राप्त होने पर उसके जीवन का एक नया मोड़ प्रारम्भ होता है। यदि उसी समय आवश्यक तिरस्कार मिला तो संभव है वह अपना रास्ता बदल दे। परन्तु यदि तिरस्कार का विपरीत प्रभाव पड़ा तो जो बालक किसी अन्य बालक को रोते देखकर स्वयं रोने लगता था वही एक डाकू अथवा चोर के जघन्य रूप में कितने ही स्त्री-पुरुषों की निर्दयता से हत्या करता है और ऐसा करते समय उसके हृदय में किसी प्रकार की ग्लानि उत्पन्न नहीं होती और न उसका हृदय कठुणा से ही पसीजता है।

अपराधी जिन परिस्थितियों वश अपराध करता है, वे सामाजिक आर्थिक और यौन सम्बन्धों हैं। यह निश्चित है कि अपराधी अपराध उस समय करता है, जब उसका मानसिक संतुलन विकृत होता है। कभी-कभी तो अपराधी को अपराध करने का ज्ञान होता है और वह जानते हुए भी कि अपराध करना उचित नहीं है, परिस्थितियों वश अपराध करने के लिए विवश होता है।

अपराधों का मनोवैज्ञानिक विरलेषण

प्रत्येक मनुष्य की अपनी इच्छाएँ होती हैं और उन इच्छाओं की पूर्ति के साधन भी होते हैं, परन्तु जो साधनहीन होते हैं उसमें से कई इच्छाएँ दबा लेते हैं और जो इच्छाओं को वशीभूत नहीं कर पाते उनको इच्छाएँ निरुद्योग मानसिक स्थिति में अन्दर ही अन्दर विस्फोट की भाँति तैयार होकर अन्त में अपराध के रूप में फूट पड़ती हैं।

आजकल आर्थिक और समाजिक अश्व-वस्था के कारण धन-संचय की प्रवृत्ति विशेष बल-वती हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा अपनी सन्तान के भविष्य की सुख व समृद्धि के लिए धन-संचय करना चाहता है। ऐसी प्रवृत्ति ने अनैतिक प्रकार से धन-संग्रह को प्रोत्साहित कर भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी जैसे अपराधों को जन्म दिया है।

जहाँ तक धन का प्रश्न है उसमें चल-अचल दोनों प्रकार की सम्पत्तियों का समावेश है। अचल सम्पत्ति में ज़मीन प्रमुख है जिसके सम्बन्ध में विशेषकर देहातियों में कई ऐसी धारणाएँ हैं कि जिसके आधिपत्य में भूमि होती है वही उसका स्वामी समझा जाता है। और जब स्वामित्व की भावना से अहं भावना जाग्रत होती है तो मारपीट से लेकर हत्या तक अपराध न्यायालयों में दर्ज होते पाए गए हैं।

मनुष्य की यौन सम्बन्धित नैसर्गिक तृष्णा भी कुछ सीमा तक अपराध के लिए कारण बन जाती है। सामाजिक हित व नैतिकता की दृष्टि से अपनी पत्नी से मनुष्य विश्वासपात्र होने की

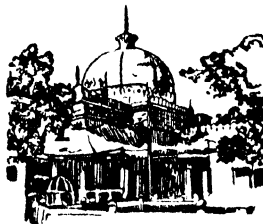
अपेक्षा करता है और यदि किसी कारण से उसका विश्वास टूट जाए तो मारपीट और विकलांग करने के अपराध से लेकर हत्या तक अपराध मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठने पर करता है।

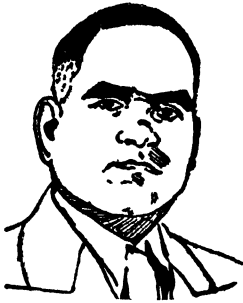
यही दशा स्त्री जाति की भी है। जो स्त्रियाँ अपने पति से असन्तुष्ट रहती हैं और जो अपने भावों को व्यक्त नहीं कर पाती और जब उनके मन से अपने पति के प्रति देवत्व की आस्था नष्ट हो जाती है तो उनके मन के भीतर चिनगारी सुलगती रहती है और वह अवसर पाकर अग्नि का रूप धारण कर लेती है। यदि स्त्री को यह विश्वास हो जावे कि उसका पति उसके सुखमय मार्ग में बाधक सिद्ध होता है तो वह भी आत्म-हत्या या हत्या तक कर बैठती है।

अपराध के कारणों में एक यह भी है कि अपराधी को जब समाज में हिकारत की नज़र से देखा जाता है और जब उसके जीविका उपार्जन के जायज रास्ते बन्द हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में अपराधी को सिवाय अपराध करने के दूसरा अवलम्बन नहीं होता और इसलिए भी अपराधों का उन्मूलन नहीं हो पाता।

अपराधों के कारणों की और भी खोज करने की आवश्यकता है। अपराधों के उन्मूलन के लिए हमें अपनी सामाजिक, आर्थिक और दंड व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपरोक्त कारणों के प्रकाश में करने की आवश्यकता है—अन्यथा अपराध रोकने के लिए जितने भी नियम बनते जाएँगे अपराध के प्रकार और तरीके भी बढ़ते जाएँगे।

—इन्दौर से प्रसारित





हिन्दी में शोधकार्य—(२)*

डा० कन्हैयालाल सहल

आए दिन पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के विरोध में बहुत कुछ कहा जाता है, किन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि समीक्षण की नूतन पद्धति एवं शोधकार्य की वैज्ञानिक उद्भावना के लिए हम बहुतांश में पाश्चात्य शोधकों के ऋणी हैं। लगभग १२० वर्ष पहले हमारे देश में अशोक के शिलालेखों को पढ़ सकने वाला कोई विद्वान नहीं था। कहा जाता है कि एक प्राचीन परिपाटी के संस्कृत पंडित से जब अशोक के शिलालेखों को पढ़ने के लिए कहा गया तो उसने उन्हें पांडवों के अज्ञातवास का चिट्ठा बतलाया था और उन्हें व्योरेवार पढ़ कर सुना भी दिया था।

भारतीय विश्वविद्यालयों में जिस पाश्चात्य शिक्षण पद्धति का आश्रय लिया गया, उसने शोधकार्य को अनेक रूपों में प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त यूरोपीय विश्वविद्यालयों में शोधकार्य करके जो प्राध्यापक भारत लौटे उनसे भी शोधकार्य के और अधिक अप्रसर होने में अच्छी प्रेरणा मिली।

आजकल हिन्दी में शोधकार्य की बढ़ी चर्चा है। कम से कम उत्तर भारत के पन्द्रह विश्वविद्यालय तो हिन्दी में शोधकार्य को प्रोत्साहन दे ही रहे हैं। अनुमान किया जाता है कि अब तक लगभग ३०० से अधिक विषय हिन्दी में शोधकार्य के लिए स्वीकृत हो चुके

हैं। और जैसा डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा ने हिसाब लगा कर बताया है, सन् १९२२ तक शोध उपाधियों के लिए प्रेषित सफल प्रबन्धों की संख्या सौ से अधिक हो गई। तब से अब तक इस संख्या में कुछ और भी वृद्धि हुई होगी। इसी प्रकार भारतीय विश्वविद्यालयों में शोधकार्य के लिए स्वीकृत विषयों की संख्या भी प्रति वर्ष बढ़ रही है।

हिन्दी विषयक सबसे पहला शोधकार्य डा० मोहिउद्दीन कादरी का था, जिन्होंने सन् १९३० में हिन्दुस्तानी ध्वनियों पर लन्दन से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। इसी प्रकार भारतीय विश्वविद्यालयों में सबसे पहले अपने 'अवधी का विकास' शीर्षक प्रबन्ध पर डा० बाबू राम सक्सेना ने सन् १९३१ ई० में डी० लिट० की उपाधि प्रयाग विश्वविद्यालय से प्राप्त की। विशेष धारा या प्रवृत्ति को लेकर जो शोध प्रबन्ध लिखे गए, उनमें सबसे पहला प्रबन्ध डा० पीताम्बरदत्त बक्ष्वाल का था, जिन्हें सन् १९३४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 'हिन्दी काव्य में निगुण सम्प्रदाय' पर डी० लिट० की उपाधि प्राप्त हुई थी।

विगत २७ वर्षों में हिन्दी से सम्बद्ध जो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए, उनमें से अधिकांश का विषय शिष्ट साहित्य है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से लोक साहित्य विषयक शोध प्रबन्ध भी लिखे जाने लगे हैं। लोक साहित्य सम्बन्धी प्रबन्धों में 'अज्ञ साहित्य : एक अध्ययन' सबसे पहला प्रबन्ध है जिस पर डा०

* इसी शीर्षक से डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा प्रसारित पहली वार्ता 'प्रसारिका' के जुलाई-सितम्बर, १९५४ अंक में पढ़िये।

सत्येन्द्र को आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९४० में पी-एच० डी० की उपाधि मिली। इसी प्रकार डा० कृष्णदेव उपाध्याय का 'भोजपुरी लोक साहित्य' जलनऊ विश्वविद्यालय से तथा सन् १९५३ में डा० सत्यव्रत सिन्हा का 'भोजपुरी लोक गाथा' प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ। राजपूताना विश्वविद्यालय भी शोध के क्षेत्र में लोक साहित्य को प्रोत्साहन दे रहा है। राजस्थानी कहानियों पर एक प्रबन्ध विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो चुका है तथा राजस्थानी पर्वों पर एक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इधर हाल ही में मालवी लोक साहित्य पर एक शोध प्रबन्ध श्री रयाम परमार ने आगरा विश्वविद्यालय के समक्ष प्रस्तुत किया है।

हिन्दी विषयक शिष्ट साहित्य को लेकर जो प्रबन्ध लिखे गए हैं उनके मुख्य विषय हैं : (१) भाषा और भाषा विज्ञान; (२) हिन्दी साहित्य का इतिहास; (३) हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि, परम्परा, प्रभाव तथा तुलना; (४) विशेषधारा या प्रवृत्ति; (५) विशेष कवि, लेखक अथवा विशिष्ट कृति; (६) वर्ग अथवा सम्प्रदाय, विशेष कवि समुदाय; (७) काव्य शास्त्र; तथा (८) महाकाव्य, नाटक आदि साहित्य के विशिष्ट रूप अथवा प्रकार।

इस विषय तालिका से भी स्पष्ट है कि पिछले २५-३० वर्षों में जिन विषयों पर हिन्दी से सम्बद्ध शोध प्रबन्ध लिखे गए हैं, उनकी परिधि को किसी प्रकार संकुचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शोध प्रबन्धों की संख्या भी उत्साहवर्धक ही जान पड़ती है।

किन्तु, इतना सब कुछ होते हुए भी, हिन्दी में शोधकार्य जिस रूप में हो रहा है, उससे हमारा पूरा समाधान नहीं होता। शोध का वास्तविक अर्थ है नवीन तथ्यों का अनुसन्धान और उनकी मीमांसा अथवा प्राप्त तथ्यों के

आधार पर नवीन निष्कर्षों की स्थापना। हिन्दी में कतिपय शोध ग्रन्थ इस प्रकार के प्रकाशित हुए हैं जिनमें ये दोनों बातें नहीं मिलती, जिनमें अल्प प्रयास द्वारा प्राप्त सामग्री का किसी प्रकार संकलन-सा कर दिया गया है। इस प्रकार के प्रयत्नों को शोधकार्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

कुछ शोधकर्त्ताओं के मन में इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ भी समाई रहती हैं कि परीक्षक तत्त्वान्वेषण की अपेक्षा ग्रन्थ के भारी-भरकम आकार को विशेष महत्त्व देता है। इस भ्रान्त धारणा का एक अवश्यंभावी परिणाम यह निकलता है कि तथाकथित शोधक अपने प्रबन्ध में असम्बद्ध-अप्रासंगिक सामग्री का भी समावेश कर डालता है। इस प्रकार के शोधक वस्तुतः उपाधि प्राप्ति के अधिकारी नहीं होते, किन्तु कुछ अवाञ्छनीय निम्नस्तरीय प्रयत्नों के कारण कभी-कभी ऐसे शोधक भी पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित कर दिए जाते हैं। कुछ शोध प्रबन्ध तो स्वीकृत होने पर भी निम्न स्तर की आशंका के कारण प्रकाश में नहीं आते। यह स्थिति अवाञ्छनीय है। शोध का अर्थ तो यह है कि जहाँ पहले अन्धकार था, वहाँ शोधक ने अपने प्रयत्नों द्वारा, चाहे एक-आध ही सही, प्रकाश की रश्मियाँ विकीर्ण की हैं। शोध प्रबन्धों के प्रकाशन की व्यवस्था या तो वही विश्वविद्यालय करे जिसकी ओर से शोध प्रबन्ध स्वीकृत हुए हैं अथवा इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग कुछ विशेष आर्थिक सहायता की व्यवस्था करे।

विश्वविद्यालयों के अनुसन्धान निगमों के समक्ष कभी-कभी इस प्रकार के विषय विचारार्थ रखे जाते हैं जिनका क्षेत्र शोध की अपेक्षा आलोचना से अधिक सम्बन्धित रहता है। शोध और आलोचना की प्रक्रिया एक ही नहीं होती। किसी प्रकार की नई शोध के

दर्शन आलोचना में भले ही न हों किन्तु जब कोई विषय शोध के लिए स्वीकृत किया जाए, तब तो उसके द्वारा एक प्रकार की नूतन उपलब्धि होनी ही चाहिए। इस तथ्य की ओर दुर्लक्ष्य किए जाने के कारण भी कभी-कभी मात्र आलोचनात्मक कृतियाँ शोध प्रबन्धों के नाम से अभिहित कर दी गई हैं। शोधक और आलोचक में एक अन्तर यह भी है कि शोधक तो सत्यान्वेषण करते समय वैज्ञानिक की भाँति तटस्थ रहता है, जबकि सभी आलोचकों के लिए सामान्यतः यह संभव नहीं होता। शोधक के लिए तो एक मात्र पथप्रदर्शक सूत्र है 'सच्चं भगवं लोगम्मि सारमूय्य' अर्थात् लोक में सारभूत सत्य ही भगवान है। डा० बुष्के की 'राम कथा' शोध की वैज्ञानिक दृष्टि का आदर्श प्रस्तुत करती है।

हिन्दी में जो शोधकार्य हो रहा है, उसका सम्यक् संयोजन आज हम नहीं कर पा रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप एक ही विषय पर अनेक शोध कर्त्ता विद्वान आज दिखलाई पड़ने लगे हैं। हिन्दी में कथा साहित्य के उद्भव और विकास पर अनेक शोध कर्त्ताओं ने शोध प्रबन्ध लिखे हैं जिनके कारण अनावश्यक एवं अवाञ्छनीय पिष्टपेषण हुआ है। कभी-कभी एक ही विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किए जाने के कारण एक से अधिक शोध प्रबन्धों का लिखा जाना आवश्यक हो सकता है, किन्तु इस प्रकार के शोध प्रबन्धों के लिए स्वीकृति देते समय बड़ी सतर्कता और विवेक की आवश्यकता है। अन्तर्विश्वविद्यालयी बोर्ड अगर इस दिशा में कोई सक्रिय कदम उठाएँ तो अनावश्यक पिष्टपेषण बहुत अंशों में रोका जा सकता है।

हिन्दी में कुछ शोधक ऐसे भी हैं जो अपने प्रबन्धों के लिए इस प्रकार के विषयों का चुनाव कर लेते हैं जिन्हें वे अपने प्रबन्धों की

संकुचित सीमाओं में समेट नहीं पाते। ऐसे शोधकों का काम अपेक्षाकृत सरल माना जाता है। विषय की विविधता तथा उसकी व्यापक परिधि के कारण इस प्रकार के शोधक विषय के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाते, वे एक प्रकार का सर्वे सा करके अपने काम से छुटी पा जाते हैं। विषय की सीमा यथासम्भव छोटी होनी चाहिए, तभी शोध कर्त्ता की सच्ची शोध और उसकी लगन का पता चलता है। इस प्रकार के विषय में अनुसन्धान करता हुआ शोधक अपने सीमित शोध के आनन्ददायी लोक में विचरण करने लगता है और अपनी शोध के परिणामस्वरूप जिन नूतन तथ्यों पर वह प्रकाश डालता है अथवा नवीन निष्कर्षों की स्थापना करता है वे चकित कर देने वाले होते हैं।

हमारे देश के अनेक विश्वविद्यालयों में अभी तक प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक और वैज्ञानिक सम्पादन को शोध का प्रकृत विषय नहीं माना जाता। किन्तु इस ओर भी अब अविलम्ब ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। प्राकृत और अपभ्रंश आदि के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य मुनिजिनविजय जी ने ग्रन्थों के सम्पादन के सम्बन्ध में विद्वानों के समक्ष एक आदर्श रखा है। हिन्दी के कुछ विद्वानों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रन्थावली के प्रामाणिक सम्पादन में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कार्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उन्हें कृतियों के प्रामाणिक सम्पादन के लिए लन्दन से माइक्रोफ़िल्म प्रतियाँ भी प्राप्त करनी पड़ीं। हमारे यहाँ संत साहित्य का अनेक वर्षों से अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, किन्तु संन-वाणियों के आधुनिक पद्धति पर सम्पादित प्रामाणिक ग्रन्थों का आज भी अभाव है। जयपुर के विद्याभूषण स्वामीय पं० हरिनारायण

हिन्दी में शोधकार्य

जी पुरोहित ने अवश्य 'सुन्दर ग्रन्थावली' का सम्पादन करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की थी।

बम्बई विश्वविद्यालय जैसे अनेक विश्व-विद्यालयों में ग्रन्थों के प्रामाणिक सम्पादन पर भी उपाधियों दी जाती हैं। हिन्दी शोधकों के लिए भी यह क्षेत्र खुला होना चाहिए। अनेक हस्त लिखित महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं, जिनके प्रामाणिक सम्पादन और प्रकाशन द्वारा शोधकार्य को भी गति मिलेगी।

यह सच है कि हिन्दी के अनेक शोध प्रबन्धों में आज उस सूक्ष्मता और तलस्पर्शिता का अभाव है जो शोधकार्य के लिए वांछनीय है। यह भी सच है कि कुछ प्रबन्धों में मौलिकता का अभाव है। कुछ में शोध की अपेक्षा समीक्षा ही अधिक हुई है और कुछ में वैज्ञानिक पद्धति का अभाव भी खटकता है। किन्तु फिर भी शोधक विद्वानों के लिए जितनी सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ, उतनी सुविधाएँ उन्हें आज नहीं मिल रही हैं। हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आज भी इंडिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति हमारे देश में सुलभ होनी चाहिए। केन्द्रीय शिक्षा मंत्री, माननीय मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की ब्रिटेन यात्रा के बाद भी इंडिया आफिस लाइब्रेरी का प्रश्न अभी उलझन में ही पड़ा है। केन्द्रीय सरकार को इस ओर सचेष्ट होना चाहिए। इसना ही नहीं, भारतीय साहित्य और संस्कृति से सम्बन्धित जो भी दुर्लभ ग्रन्थ इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों में हों, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न सरकारी तौर पर किया जाना चाहिए, हस्त लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की माइक्रोफ़िल्म प्रतिलिपियाँ करवाई जानी चाहिएँ। इसके अतिरिक्त पुराने रियासती राज्यों के पुस्तकालयों में भी जो महत्त्वपूर्ण सामग्री

आज बन्द पड़ी है, वह भी शोधकर्ता विद्वानों के लिए सुलभ होनी चाहिए। आज भी राजस्थान जैसे राज्य साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से बहुत धनी हैं। बहुत से हस्त लिखित ग्रन्थ अब भी उचित संरक्षण के अभाव में नष्ट हो रहे हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदि काल की तो बहुत कुछ सामग्री राजस्थान में ही उपलब्ध होगी।

सामान्यतः यह देखा जाता है कि अनेक वर्षों की पराधीनता के बाद जब कोई देश स्वतन्त्रता प्राप्त करता है तब उसे उस स्वतन्त्रता का दायित्व वहन करने में व्यस्त रहना पड़ता है। राजनीतिक नेताओं का ध्यान राष्ट्र के पुनर्गठन और नव निर्माण में लग जाता है। किसी सीमा तक ऐसा होना स्वाभाविक है। किन्तु हमें यह याद रखना होगा कि जब तक हमारी सांस्कृतिक चेतना जागृत न होगी, जब तक शोध और अन्वेषण के क्षेत्र में हमारा महत्त्वपूर्ण योगदान न होगा; हम मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीन ही बने रहेंगे।

हिन्दी शोध के क्षेत्र में शोधकों को उन विषयों का चुनाव करना चाहिए जिन पर शोधकार्य किए जाने से हिन्दी साहित्य के किसी अभाव को पूर्ति होती हो। ग्रियर्सन और मैकालिस्टर के भाषा सर्वे के बाद भाषाओं और बोलियों के सर्वे अभी नहीं हुए हैं। इस ओर शोधकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट होना चाहिए, किन्तु भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपयुक्त ग्रंथों और प्रयोगशालाओं की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। डेकन की पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा किसी अंश में एक अभाव की पूर्ति हो रही है, किन्तु इस प्रकार की अनेक संस्थाओं का निर्माण अपेक्षित है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद पर आरुढ़ हो जाने पर अब यह भी वांछनीय है कि हिन्दी

के शोधक विद्वान उत्तर प्रदेशीय तुलनात्मक अध्ययन को भी अपने शोध का विषय बनाएँ। कंबन रामायण और तुलसीकृत रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन ज्ञान के क्षेत्र में ही उपादेय नहीं होगा, इसके द्वारा उत्तर और दक्षिण भारत की सांस्कृतिक एकता भी सुदृढ़ होगी।

ग्रन्थों के सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन भी शेष विषयों के रूप में लिए जा सकते हैं। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग में इस प्रकार के प्रयत्न अवश्य ही महत्वपूर्ण ठहराए जाएँगे। किसी विषय के वैज्ञानिक

अध्ययन के लिए यदि विदेश जाना आवश्यक हो, तो उसकी व्यवस्था भी केन्द्रीय सरकार अथवा सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से होनी चाहिए। केन्द्रीय स्थानों पर हस्त लिखित ग्रन्थों के संग्रहालय हों, तो उनसे भी शोधकों को सहायता मिलेगी।

हिन्दी में जो शोधकार्य हुआ है और हो रहा है, उसमें श्रुटियाँ होते हुए भी हम आशा करते हैं कि यह कार्य निरन्तर आगे बढ़ेगा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण और ठोस अध्ययन के सहारे शोधकार्य भी उज्ज्वल रूप धारण करेगा।

—जयपुर से प्रसारित

मेरे संबल

अजित कुमार

ये जो चेहरे पर खिंची लकीरें हैं।
ये हँसने से, गाने से,
गाते रहने से—
अंकित होने वाली तस्वीरें हैं।
ये जो अपनी वय से ज्यादा
दिखने वाले, माथे पर के
टेढ़े-मेढ़े बल हैं—
ये वे सारे पल हैं,
जो हमने बाँट दिए,
या आँखों-आँखों में ही
रख कर काट दिए।

सबकी निगाह में बोझ—
वही तो मेरे संबल हैं,
जो माथे पर टेढ़े-मेढ़े, आड़े-तिरछे
बल हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

विषैले साँप

हरिश्चन्द्र भरतिया

जन्तु जगत में सर्पसंसार मनुष्य जाति के लिए अत्यन्त आसंककारी है, ऐसा प्रायः सभी मानते हैं। वैसे साँपों से भी भयंकर जीव-जन्तु इस दुनिया में हैं, किन्तु अपेक्षाकृत बहुत छोटा कुर्तीला एवं साधारणतया विषैला होने के कारण साँप अनायास ही महान विपदा का कारण बन जाता है।

विज्ञान के व्यापक प्रसार से प्रकृति के विभिन्न पहलुओं पर मनुष्य निरन्तर विजय प्राप्त करता जा रहा है और इसीलिए आजकल साँप भी उतनी चिन्ता का विषय नहीं रहा, जितना आज से पचास वर्ष पहले तक था। दुर्भाग्य से हमारे देश में विज्ञान का प्रसार अभी बहुत सीमित है। इसके परिणामस्वरूप अधिकांश देशवासी अभी तक अन्धविश्वास एवं अज्ञान के शिकार बने हुए हैं। उन्हें विज्ञान के भिन्न-भिन्न पहलुओं से परिचित कराने की अतीव आवश्यकता है। सर्प-सम्बन्धी आवश्यक जानकारी देशवासियों में प्रचलित अनेक भ्राम्तियों का निवारण तथा साँपों के प्रति दृष्टिकोण को ठीक करने वाली आवश्यक एवं अनावश्यक भ्रष्टा और दया का निर्णय कर सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

संसार में लगभग सत्रह सौ भिन्न-भिन्न जाति के सर्प पाए जाते हैं। अत्यन्त ठण्डे प्रदेशों को छोड़कर दुनिया के प्रायः प्रत्येक भाग में साँप रहते हैं। न्यूजीलैण्ड, आयरलैण्ड तथा दवाई द्वीप में साँप बिल्कुल नहीं होते तथा मैडागास्कर में केवल बिच रहित सर्प पाए

जाते हैं। विषैले सर्पों की संख्या सौभाग्य से बहुत कम है। दुनिया में लगभग दो सौ प्रकार के विषैले सर्प हैं, जो सर्पों की कुल संख्या के लगभग बारह प्रतिशत ही होते हैं। सर्प-दंश से मृत्यु होने वालों की संख्या संसार में प्रायः एक लाख प्रति वर्ष है। इनमें से केवल भारतवर्ष में ही लगभग तीस हजार व्यक्ति साँप के काटने से प्रति वर्ष मर जाते हैं। हमारे यहाँ के अतिरिक्त माज़ील, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका में भी साँप के काटने से मरने वालों की संख्या काफ़ी बड़ी है।

साँपों की भयंकरता और मनुष्य के अज्ञान के कारण भारतवर्ष में ही नहीं दुनिया के कई भागों में भी सर्प पूजे जाते हैं। यहाँ उनका मारना अधार्मिक कृत्य माना जाता है। भारतवर्ष में सर्प-दंश से होने वाली मृत्यु संख्या के आधिक्य का कारण केवल अन्धविश्वास ही नहीं निर्धनता भी है। हमारे यहाँ के किसान और मजदूर बहुत बड़ी संख्या में नंगे पैर रहते हैं, जिसके फलस्वरूप वे सरलता से साँपों के शिकार हो जाते हैं।

स्वभाव से साँप सुस्त एवं कायर होते हैं। किसी भी प्रकार का खटका पाते ही वे भागकर छिपने की चेष्टा करते हैं। जब भागने एवं छिपने की जगह नहीं मिलती अथवा कोई उनसे छेड़छाड़ करता है, तब वे आक्रमण कर बैठते हैं। कभी अनजान में उन पर पैर पड़ जाने या भूमि पर सोए मनुष्यों के नीचे दब जाने पर भी साँप काट लेते हैं। कहीं पर धाराम करते हुए अथवा धूप सेते समय किसी के द्वारा हस्तचेष उन्हें बहुत घुरा लगता है। अपनी उपस्थिति बताने के लिए वे शरीर का अग्रिम भाग उठाकर बड़ी तेजी से अपनी जीभ लपकाते और फुफकारने लगते हैं।

सर्प प्रायः अपने से छोटे सर्प, बूढ़े, मँढ़क, कूँड़ूर, मुर्गी के अंडे-बच्चे आदि पर जीवन

निर्वाह करते हैं। साँप का सिर और मुँह बहुत छोटा होता है फिर भी वह बड़ी-बड़ी चीजों को निगल लेता है। इसका कारण उसके ऊपरी जबड़े की हड्डियों की विशेषता तथा ऊपरी और निचले जबड़ों को जोड़ने वाली लचीली मांस पेशियाँ हैं। इसीलिए उनका मुँह बहुत अधिक खुल जाता है। एक बार किसी भी वस्तु को मुँह में लेने के बाद जबड़ों की गति इस तरह की होती है कि शिकार भीतर की ओर ही सरकता जाता है। इसीलिए साँप को कभी-कभी अप्रिय वस्तु भी निगलनी पड़ती है।

साँप का लम्बा मुलायम शरीर, खाल की ऊपरी परत से बने हुए झिलकों से ढका रहता है। ये झिलके साँपों की पहचान में बहुत सहायक होते हैं। उनके शरीर के विभिन्न भागों के अनुसार ही झिलकों को सिर, पीठ पेट, दुम तथा आँठों के झिलके कहा जाता है।

साँपों में नर और मादा दोनों होते हैं। अधिकतर साँप अण्डे ही देते हैं, किन्तु कुछ साँप बच्चों को भी जन्म देते हैं। अजगर सर्पिणी एक बार में तीस-चालीस अण्डे देती है, जब कि करैत सर्पिणी आठ-दस अण्डों से अधिक नहीं दे पाती है। विषैले सर्पों के नवजात बच्चों में भी विषदन्त और विषग्रन्थियाँ पूर्ण विकसित रहती हैं। अतः बच्चे समझकर असावधान रहना ठीक नहीं होता। साँपों की आयु के विषय में भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। किन्तु अभी तक के प्रमाणों के अनुसार उनका जीवन काल तीस-चालीस वर्ष से अधिक नहीं होता।

भारतवर्ष में लगभग तीन सौ प्रकार के साँप पाए जाते हैं। इनमें से केवल चालीस प्रकार के सर्प ही विषैले होते हैं, शेष विष रहित और हानि रहित। धामन, दुमुँही जैसे साँप कृषि के लिए बहुत लाभदायक होते हैं। विष रहित

साँप कृषि को हानि पहुँचाने वाले चूहे, छछूँदर जैसे जानवरों का आहार करके हमें पर्याप्त लाभ पहुँचाते हैं। भारत के विषैले सर्प चार भागों में विभाजित किए जाते हैं :

(१) समुद्री साँप, (२) नाग एवं कोरल वंशीय साँप, (३) करैत वंशीय तथा (४) दबोइया अथवा वाइपर वंशीय साँप।

नाग, कोरल एवं करैत वंशीय सर्पों को एक बड़े भाग में सम्मिलित किया जाता है, जिसे अंग्रेजी में कोलूब्राइन समूह कहते हैं।

इन सभी सर्पों में विष प्रणाली पूर्ण रूप से विकसित रहती है। इनकी थूक ग्रन्थियाँ केवल विष ही उत्पन्न करती हैं, अतः उन्हें विष ग्रन्थियाँ कहा जाता है। विष ग्रन्थि से जहर विष नलिका में आता है। विष नलिका विष-दन्त की जड़ में खुलती है। विष-दन्त ऊपरी जबड़े में होते हैं और उनकी संख्या केवल दो ही होती है। वे इन्जेक्शन की सूई की तरह पोले और नुकीले रहते हैं। क्रियाशील विष-दन्तों के टूट जाने पर शीघ्र ही नए विष-दन्त पैदा हो जाते हैं। अतः विषैले सर्पों के केवल दाँत निकालना पर्याप्त नहीं होता वरन् उनकी विषग्रन्थियाँ भी पूर्ण रूप से हटाना आवश्यक होता है। विष डालने की क्रिया का संचालन विभिन्न मांस पेशियों की सहायता से होता है। यह क्रिया बिजली की चमक के समान क्षण भर में ही पूरी हो जाती है।

समुद्र में पाए जाने वाले सभी साँप अत्यन्त विषैले होते हैं। समुद्री साँपों की पूँछ दाँढ़ी और बाईं ओर से चपटी होती है। इनकी लम्बाई प्रायः तीन-चार फुट से अधिक नहीं होती है। कहा जाता है कि समुद्री सर्पों का विष काले नाग के विष से आठ गुना घातक होता है। किन्तु स्वभाव से ये साँप उदार होते हैं और बिना छेड़छाड़ किए किसी को नहीं काटते। काटने पर मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती

विषैले सर्प

है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि नदी, तालाब आदि में मिलने वाले पनियर सर्प मनुष्य की दृष्टि से हानि रहित होते हैं।

कोलूब्राइन समूह में संसार के प्रसिद्ध विषैले सर्प, जैसे—शेषनाग, साधारण फनवाले नाग, करैत, कोरल आदि शामिल हैं। शेष नाग कोलूब्राइन समूह का प्रमुख विषधर है। इसे महानाग, नागराज, शंखचूड़, किंगकोबरा आदि नामों से भी पुकारा जाता है। नागराज घोर विषमय एवं अत्यन्त घातक सर्प होता है। यह साधारणतया ग्यारह-बारह फुट लम्बा होता है, किन्तु कभी-कभी नागराज की लम्बाई बीस फुट तक पहुँच जाती है। जहाँ कहीं नागराज निकल आता है वहाँ भयंकर आतंक फैल जाता है। प्रसिद्ध है कि किसी सड़क के आस-पास नागराज विश्राम कर रहा हो तो किसी का भी साहस उधर से निकलने का नहीं हो पाता। कल्पना कीजिए उस भयंकर दृश्य की जब नागराज अपने शरीर के अग्रिम भाग को उठाकर एवं अपना फन फैलाकर खड़ा हो जाता है। वैसे नागराज का फन उतना चौड़ा नहीं होता जितना साधारण नाग अथवा कोबरा का होता है। सौभाग्य की बात है कि नागराज घने जंगलों में ही पाया जाता है। हिमालय, असम, बंगाल व उड़ीसा के जंगल ही नागराज के विशेष निवास स्थान हैं। अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नागराज अनावश्यक रूप से कभी किसी पर आक्रमण नहीं करता।

फनवाला नाग अवस्था कोबरा दूसरा भयानक सर्प है। हमारे देश में इसे कालानाग, फनियर, गेहुँआ अथवा गोखुरा नाग भी कहते हैं। बस्तियों, खेतों व जंगलों में यह सर्प बहुतायत से पाया जाता है और अन्धविश्वासी जनसाधारण की उपासना का पात्र है। इस का फन नागराज के फन से बहुत बड़ा होता है। उस पर ऊपर की ओर गाँब के खुर जैसा

निशान बना होता है तथा नीचे की ओर एक या दो चरमे जैसे निशान बने होते हैं। यह सर्प स्वभाव से भीरु, किन्तु दुर्वाशा के समान क्रोधी तथा परशुराम के समान प्रतिशोध लेने वाला होता है। थोड़ा-सा खटका पाते ही घबरा जाता है। किन्तु क्रोधित होने पर शीघ्र ही फन फैला कर खड़ा हो जाता है और तेजी से फुफकारते हुए अपने शत्रु पर बार-बार आक्रमण करता है। काटते समय यह बहुत देर तक दौँत गड़ाए रहता है, ताकि घाव में इतना विष पहुँच जाए कि शिकार बच न पाए। यह नाग प्रायः छः-सात फुट लम्बा तथा रंग में गहरे भूरे से लेकर काला तक होता है। आत्म-रक्षा की दृष्टि से इसका रंग वातावरण के रंग के समान भी हो जाता है।

करैत तीसरे प्रकार का कोलूब्राइन सर्प है। यह बंगाल, बिहार व उत्तर प्रदेश में अधिकता से पाया जाता है। इसकी लम्बाई तीन-चार फुट ही होती है, किन्तु इसका विष नाग के विष से चार-पाँच गुना अधिक घातक होता है। मनुष्य को काटना इस भी रुचिकर नहीं होता, परन्तु रात्रि को चूहों की तलाश में घर में घुस आने और अनजाने में दब जाने से मनुष्य पर आक्रमण कर बैठता है। धारियों वाले करैत की लम्बाई छः-सात फुट तक पहुँच जाती है। इसे राजसर्प अथवा साँकनी भी कहते हैं। इसके शरीर पर गहरे पीले और काले रंग की धारियाँ पाई जाती हैं।

चौथे प्रकार के कोलूब्राइन सर्प कोरल सर्प कहलाते हैं। ये मणि के समान सुन्दर होते हैं। इनकी लम्बाई दो या तीन फुट से अधिक नहीं होती। बम्बई और पश्चिमी घाटों के पहाड़ी क्षेत्रों में ये बहुतायत से पाए जाते हैं। छोटे होने के कारण ये मनुष्य के लिए घातक नहीं होते। कोलूब्राइन सर्पों के विष का असर स्नायुओं पर होता है।

वाइपेराइन अथवा दबोइया सर्प विषधर सर्पों के एक दूधरे समूह से सम्बन्ध रखता है। सीमाध्य से वाइपेराइन समूह के सर्प हमारे देश में कम ही मिलते हैं। दबोइया सर्प दो प्रकार के होते हैं—साधारण दबोइया और गड्डेदार दबोइया। रसैल वाइपर साधारण दबोइयों में विशेष स्थान रखता है। यह मुख्य रूप से मिन्धु के मैदान में मिलता है। शरीर पर मनोहर चित्रकारी के कारण जितना सुन्दर लगता है उतना ही घातक भी होता है। इसकी लम्बाई चार-पाँच फुट तक होती है। दूसरा सर्प फूरसा अथवा एकिस केरिनेटा कहलाता है। यह भारत के प्रायः समस्त मैदानों में मिलता है, किन्तु रेतीले स्थान इसे विशेष रूप से प्रिय हैं। गड्डेदार दबोइया सर्प पहाड़ी क्षेत्रों में अधिक मिलते हैं। इनमें हिमालयी दबाइया की अपेक्षा हरा दबोइया आधिक्य से पाया जाता है। हरा दबोइया हरी-हरी घास, झाड़ियों अथवा पत्तियों में छिपा रहता है और इसीलिए इसकी उपस्थिति सरलता से मालूम नहीं होती।

वाइपेराइन सर्पों के विष का प्रभाव रक्त-कणों पर होता है। रक्तकण शीघ्रता से नष्ट होने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप शरीर में पहुँचने वाली प्राणवायु की मात्रा घटने लगती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

हमारे देश में प्रायः सभी तरह के विषैले सर्पों का प्रतिनिधित्व है। यही कारण है कि यहाँ सर्प-दंश से होने वाली मृत्यु संख्या बहुत अधिक है। यह हमारे लिए गर्व एवं प्रसन्नता की बात

है कि बम्बई के हैफकिन्स इन्स्टीट्यूट ने सर्पों के ऐसे विष नाशक इंजेक्शन तैयार किए हैं जो काटे हुए प्राणी को बचा सकते हैं। किन्तु अभी हमारे अस्पताल, जहाँ ये इंजेक्शन मिल सकते हैं, प्रायः शहरों तक ही सीमित हैं। इन इंजेक्शनों का प्रयोग उसी हालत में किया जा सकता है जब विषैले सर्प ने ही काटा हो अन्यथा गलत प्रयोग स्वयं मृत्यु का कारण बन जाता है।

विषैले सर्पों की पहचान उनकी शारीरिक रचना की विशेषताओं के आधार पर की जाती हैं। फिर भी उन्हें दूर से पहचान लेना सरल बात नहीं है। उनके शरीर पर स्थित छिलकों को देख कर ही ठीक-ठीक पहचान की जा सकती है। सभी समुद्री विषैले सर्पों के पेट के छिलके समूचे होते हैं अर्थात् एक ही छिलका पेट की चौड़ाई को ढक लेता है। किन्तु पेट के समूचे छिलके वाले सभी सर्प विषैले नहीं होते। अतः पेट के समूचे छिलकों के साथ गुणों से पहचान सकते हैं कि सर्प किस जाति का है? सिर के छिलके बड़े हों और ऊपरी आँठ का तीसरा छिलका आँख और नाक को छूता हो तो सर्प नागराज, नाग अथवा कोरल सर्प होता है। सिर के छिलके बड़े हों, दुम के नीचे के छिलके समूचे हों तथा पीठ के मध्य भाग के छिलके आसपास के छिलकों से बड़े हों तो वे करैत सर्प होते हैं। सिर के छिलके छोटे हों तो दबोइया सर्प होते हैं।

अन्त में मैं यह कामना करता हूँ कि हमारे देश में विषैले सर्पों की संख्या शीघ्रता से कम हो तथा विषरहित सर्पों का अधिकाधिक पोषण हो।

—इन्दौर से प्रसारित



मशीन उद्योग का विकास

लक्ष्मीकान्त भा

पिछले बीस वर्षों में देश में औद्योगिक मशीनों को बनाने की दिशा में काफी प्रगति हुई है।

हमारे पुराने उद्योगों को जिन मशीनों और दूसरे सामान की ज़रूरत होती है उसका अधिकांश अब देश ही में तैयार होने लगा है। कपड़ा और चाय की मशीनों के बहुत से हिस्से काफी समय से देश ही में बन रहे हैं। बिजली की मोटर, ट्रांसफार्मर, डीजल इंजन और पम्प भी काफी संख्या में बनाए जाते हैं और चीनी, सीमेंट और रासायनिक उद्योगों के लिए कुछ हल्की मशीनें भी तैयार की जाती हैं। हल्की मशीनें बनाने का उद्योग पूरी तरह जम चुका है। परन्तु हम जितना बनाते हैं, उससे हमारी ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं। उद्योगों का विस्तार और विकास होने के साथ-साथ यह कमी बढ़ती जा रही है।

उद्योगों की लगभग सभी मशीनें प्रायः लोहे या इस्पात की बनती हैं। धातु को मशीन का रूप देने की मोटे तौर से चार प्रक्रियाएँ हैं। पहली प्रक्रिया ढालने की है। धातु को पिघला कर साँचे में ढाला जाता है। दूसरी प्रक्रिया कूटने-पोटने की है। गरम धातु को दथौड़ों से पीटकर या अन्य प्रकार से इच्छित रूप दिया जाता है। इसके बाद धातु को ठीक माप के अनुसार काटा जाता है। धातु को काटने में मशीनी औजारों की ज़रूरत पड़ती है। इसके बाद विभिन्न रूप और आकार के हिस्सों को जोड़ दिया जाता है।

हल्की मशीनों के कारखाने यह सब काम प्रायः स्वयं कर लेते हैं वह धातु को स्वयं ढालते

हैं, मशीनों औजारों की सहायता से उसे अंतिम आकार प्रदान करते हैं और फिर विभिन्न हिस्सों को जोड़ कर तैयार मशीन को बेचते हैं।

इंजन, पम्प और कपड़ा तैयार करने की मशीन बनाने वाले कारखाने भी यह सब काम स्वयं करते हैं। ऐसे कारखानों के लिए यह ज़रूरी है कि मशीनें बनाने वाली मशीनों की स्थापना में वे जितनी पूँजी लगाएँ उसके अनुपात से उत्पादन भी अधिक हो। जिस चीज़ की कम माँग है उसे देश में ही तैयार करना महंगा पड़ेगा। ऐसी चीज़ों को विदेशों से मँगाना ही ठीक है।

भारी उद्योगों—जैसे इस्पात, कागज, रसायन—के लिए ज़रूरी मशीनें तैयार करने की समस्या इससे बहुत भिन्न है। ये मशीनें एक विशेष प्रतिमान की होती हैं और एक खास काम के लिए बनाई जाती हैं। इस्पात कारखानों की मशीनें पूर्णतः एक जैसी नहीं होंगी, क्योंकि वे कारखानों की अपनी अपनी ज़रूरतों और परिस्थितियों के मुताबिक बनाई जाती हैं। अतः मशीनों के नमूने बनाना, मशीनें तैयार करने के उद्योग का बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा है। मशीनों के नमूने तैयार करने का काम ऐसा है जिसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए वर्षों के अनुभव की ज़रूरत है। इस काम में फिलहाल हम दूसरे उन्नत देशों से शिल्पिक सहायता लेनी होगी। यह जरूरी है कि पहले हम धातु को ढालने, आकार देने, काटने और जोड़ने के काम में पूरी तरह समर्थ हो जाएँ। यह ज़रूरी नहीं कि वह

सब काम एक ही कारखाना करे। संसार में सर्वत्र प्रायः यह होता है कि एक कारखाना ढलाई या कटाई जैसे एक ही काम में दक्षता प्राप्त करता है, जिससे दूसरे अनेक कारखानों की जरूरतें पूरी हो जाएँ।

इसके अलावा ढलाई, कटाई आदि का अलग-अलग काम करने वाले विभिन्न कारखाने साथ मिलकर एक इकाई के रूप में काम करते हैं। भारत में हम दोनों ही तरीकों का इस्तेमाल करना चाहते हैं। हम ऐसे कारखाने स्थापित करना चाहते हैं जो हमारी विभिन्न प्रकार की जरूरतों को पूरा कर सकें। हम ऐसे कारखाने भी स्थापित करना चाहते हैं जो केवल एक खास किस्म की मशीनें तैयार करें।

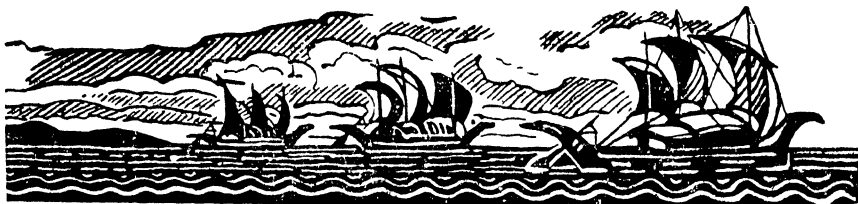
दूसरी योजना में ढलाई का एक कारखाना स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। यह कारखाना भारी मशीन बनाने वालों को ढला हुआ लोहा देगा। लोहे के घरने आदि बनाने वाला कारखाना स्थापित करने के विषय पर भी विचार किया जा रहा है। कोलम्बो योजना के अधीन भारत आए एक ब्रिटिश मिशन ने सिफारिश की है कि ढलाई के कारखाने के अलावा, भारी घरने और इमारती सामान बनाने का कारखाना, भारी मशीन टूल कारखाना, भारी पत्तरों और बड़े पात्रों का कारखाना भी स्थापित किया जाए। इन योजनाओं को शुरू करने के लिए बातचीत चल रही है।

उपयुक्त कारखानों के अलावा तीन और कारखाने स्थापित किए जाएँगे जो लोहा एवं इस्पात उद्योग, खान उद्योग और बिजली के उत्पादन एवं वितरण के लिए विशेष भारी मशीनें तैयार करेंगे। प्रथम दो कारखानों के लिए रूस ने शिल्पिक और वित्तीय सहायता देने के लिए कहा है। बिजली का सामान बनाने वाला कारखाना तैयार हो रहा है और दक्ष कर्मचारियों का प्रशिक्षण शीघ्र शुरू हो जाएगा।

सरकारी उद्योगों के अलावा निजी उद्योगों को भी विभिन्न प्रकार की मशीनें—जैसे सीमेंट, चीनी और पटसन के कारखानों की मशीनें, हल्के मशीन टूल, बायलर आदि—बनाने के लिए बढ़ावा दिया जा रहा है। मशीनों के आयात पर प्रतिबन्ध लगने के कारण देशी निर्माताओं ने अधिक से अधिक मशीनें तैयार करने का प्रयत्न शुरू कर दिया है।

मशीनें बनाने का उद्योग भविष्य में बहुत विकसित होगा, परन्तु यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें आत्मनिर्भर होना कठिन है। गवेषणा, आविष्कार और शिल्प विज्ञान के कारण यह उद्योग अधिकाधिक उन्नत हो जाता जाएगा। हम तो केवल यह प्रयत्न कर रहे हैं कि आज से दस साल बाद हमारा यह उद्योग इतना विकसित हो जाए कि हमें दूसरे देशों पर निर्भर न रहना पड़े।

—दिल्ली से प्रसारित



पुस्तक समालोचना



बूँद और समुद्र : लेखक—श्री अमृतलाल नागर ।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' को मैं हिन्दी उपन्यास के इतिहास में एक बड़ी घटना समझता हूँ। इस विशालकाय उपन्यास में लेखक ने न केवल व्यक्ति और समाज में समन्वय की शाश्वत समस्या को उठाकर उसका समाधान किया है, वरन् अनेक सजीव पात्रों की रचना तथा विविध परिस्थितियों के चित्रण द्वारा आधुनिक मध्यवर्गीय समाज के समस्त जीवन को समेटने का सफल प्रयास भी किया है। नागर जी जीवन को आस्था तथा आत्मविश्वास की आँख से देखते हैं, व्यक्ति की गरिमा को समाज में स्थापित करते हैं, सिद्धान्तों तथा रूढ़ियों पर कठोर प्रहार कर मानवता का सन्देश देते हैं। यह सन्देश स्वयं पात्रों के विकासशील जीवन से उमड़ कर बहता है, परिस्थितियों के तल से उभर कर निकलता है। उपन्यास सजीव पात्रों की विशाल चित्रशाला है, तथा परिस्थितियों एवं घटनाओं का विस्तृत रंगमंच है। इस विस्तार को संभालने में लेखक ने एक उच्च कोटि की सूक्ष्म तथा कला का परिचय दिया है।

उपन्यास के दो प्रमुख पुरुष पात्र महिपाल और सज्जन कलाकार हैं—महिपाल साहित्यकार है, सज्जन चित्रकार है। इन दोनों चरित्रों के आधार पर उपन्यासकार ने शिष्ट मध्यवर्गीय समाज का चित्र अंकित किया है। ये दोनों पात्र एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं, महिपाल उसका यथार्थ रूप है और सज्जन उसका आदर्श रूप है। महिपाल अपनी और समाज की उलझनों को सुझझाने के लिए लिखता है।

सज्जन मानव मन का संस्कार तथा परिष्कार करने के लिए चित्र बनाता है। दोनों रूढ़िग्रस्त मान्यताओं को जड़ से उखाड़ कर फेंकना चाहते हैं, ताकि व्यक्ति और समाज का स्वस्थ विकास हो सके। महिपाल का जीवन अभावों से घिरा हुआ है। उसका विवाह एक पुराण पंथी नारी से हो चुका है, जिसकी पुरातन तथा सनातन में दृढ़ आस्था है, जात-पाँत में जिसका अडिग विश्वास है। महिपाल तथा कल्याणी के दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह अन्तर महिपाल के मानस को घुन की तरह खाता रहता है, और उसके जीवन को खोखला कर देता है। उसके जीवन में दूसरा अभाव धन का है जो आगे चलकर उसे ले डूबता है। कल्याणी अपनी ननद शकुन्तला का विवाह परम्परागत ठाठ से करना चाहती है। शकुन्तला का विवाह महिपाल के लिए विषम समस्या बन कर उसे संकट की स्थिति में डाल देता है, और गले में बँधे पथर की तरह उसे डुबो देता है। उसके जीवन की घोर निराशा तथा असफलता उसके अभिमान को तोड़ देती है और उसके विश्वास का अस्त-व्यस्त कर देती है। स्नेह के अभाव को भरने के लिए वह डाक्टर शीला स्विंग के प्रेमपाश में बँध जाता है, परन्तु लोक-लाज तथा समाज निन्दा के भय से वह अकेला चने की तरह भाड़ फोड़ने के लिए विवश हो जाता है। धन के अभाव को भरने के लिए वह एक हार चुरा कर बेचता है। स्नेह और धन की चोरी उसके सबल विचारों को परास्त कर देती है। जीवन से हार कर परिश्रम से चूर हाँकर वह काबर की तरह आत्मघात करने को बाधित हो जाता है।

और अपने अन्तिम पत्र में लिखता है—‘लोक के एक क्षण ने मुझे चोर बना दिया। मेरी पत्नी अपने जाति-समाज की परम्परा के अनुसार ही शकुन्तला का विवाह करने का हठ कर रही थी। उसके हठ में समाज की नाड़ी बोल रही थी। मैं स्वयं भी अपनी भाँजी का विवाह बहुत शानदार करना चाहता था। चोरी करते ही मैं कायर हो गया था। अपनी कायरता को धोने के लिए मैं स्वेच्छा से डूब कर आत्महत्या कर रहा हूँ।’ अन्त में वह अपने व्यक्तिवादी चिन्तन में भी सामाजिक दृष्टिकोण लाने का सन्देश छोड़ जाता है। उसके सबल विचार नितान्त अशक्त हैं, उसका सम्पन्न ब्यक्तित्व अभाव से घिर कर चक्र-व्यूह में फँस कर अस्त-व्यस्त हो जाता है। ब्यक्ति और समाज में समन्वय स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न विफल हो जाता है।

महिपाल के चरित्र के विपरीत सज्जन का ब्यक्तित्व विकासशील है। वह निष्ठावान, संयत और गम्भीर युवक है, जिसके विचारों की उन्नति महिपाल के सामने सीमित तथा संकुचित है। उसके चरित्र में विचारों की कमजोरी लेखक ने कन्या के चरित्र का समावेश करके स्पष्ट कर दी है। वन कन्या अपने अहंकारमुक्त तथा पावन स्नेह से सज्जन के मनोविकारों को धो डालती है। कन्या का दृढ़ विश्वास है कि प्यार बड़ी चीज़ है। प्यार से दुनिया बदल जाती है। वह समझती है कि पूँजीवादी संस्कारों को बदलना, जिसके अन्तर्गत अहंवादी चेतना है, कठिन काम है। प्रेम का चरम विकास विवाह में है। कन्या का सुलभा हुआ दृष्टिकोण सज्जन को प्रभावित करता है। सज्जन की मनोदशा का सूक्ष्म निरीक्षण तथा चित्रण उसकी सामन्ती विचार-धारा का सूचक है। उसका वायल अहं तथा अधिकार की भावना उसे सताती रहती है।

कन्या प्रेम की भूखी है, सज्जन की प्यासी है, उसके वैभव की नहीं। सज्जन चित्रा राजदान से विवाह करेगा। चित्रा राजदान अन्य पुरुष की रखैल है। सज्जन शराब के उन्माद में उस पर मुग्ध है। वह कटी पतंग की तरह आकाश में विचरता है। कन्या सज्जन को लगभग खो चुकी है। इतने में उसका मित्र कर्नल साहब जो कन्या के सबल ब्यक्तित्व तथा सज्जन के प्रति उसके अगाध प्रेम से पूरी तरह परिचित है, दोनों का विवाह सम्पन्न करने में सफल होता है। सज्जन के जीवन में बाबा राम, जो संत विनोबा की सामूहिक चेतना तथा ब्यक्तिवादी दृष्टिकोण लिए हुए हैं, जो पूँजीपति में भी सुन्दरता देखने की क्षमता रखते हैं, जो समाजवाद को दूसरों के लिए जीना समझते हैं और सेवा पर बल देते हैं—उत्का की तरह आते हैं और सज्जन के जीवन का धीरे-धीरे नये सौँचे में ढाल देते हैं। उनका कथन है कि एक बूँद भी व्यर्थ क्यों जाय, उसका सदुपयोग होना चाहिए। यह बूँद आपको महासागर अनुभव करे। ब्यक्ति और समाज में विरोध दूर हो। यह किस तरह सम्भव है, उपन्यास के अन्त में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। सुख-दुःख में ब्यक्ति का ब्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे, जैसे बूँद से बूँद जुड़ी रहती है, जहरों से जहरें और लहरों से समुद्र बनता है। इस तरह बूँद में समुद्र समाया है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर सज्जन भीतर से बाहर आ रहा है। वह धन का त्याग करता है, भोग के स्थान पर योग को अपनाता है। सामूहिक चेतना के प्रति उसका सहज स्नेह उमड़ने लगता है। वह चित्रकला से दूर होकर जीवन तथा समाज के निकट आने लगता है। बाबा राम सज्जन का समस्त धन दान में लेना चाहते हैं। धन तथा वैभव त्याग करते समय कन्या का मन उदास हो जाता है। इस मान-

वीथ दुर्बलता के सूक्ष्म विश्लेषण से कन्या का चरित्र अधिक स्वाभाविक बन जाता है। परन्तु सज्जन व्यक्ति और समाज में तेल-पानी का नाता तोड़ कर दूध-शकर का नाता जोड़ना चाहता है। परन्तु उसका अभिन्न मित्र महिपाल मानवता की पुकार को दम्भ समझता है। सज्जन जन-जीवन में लीन होना चाहता है। दोनों मित्रों में वैमनस्य की भावना घनीभूत होकर शत्रुता का रूप धारण कर लेती है। सज्जन इस वैमनस्य के मूल में ईर्ष्या की व्यक्तिगत भावना पर विजय पाकर शत्रुता का परिहार करता है। वह समझता है कि विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे समन्वयात्मक विकास होता है। एक दिन व्यक्ति की सामाजिक चेतना जाग कर ही रहेगी। सज्जन तथा कन्या का परस्पर सम्बन्ध नर-नारी के भावी परस्पर सम्बन्ध का परिचायक है, जो जीवन में एक-दूसरे का सहायक तथा पूरक होगा।

उपन्यास में ताई का चरित्र अत्यन्त सजीव तथा विचित्र-सा जान पड़ता है। वह एक राय बहादुर की पहली पत्नी है और अकेली बच्ची हवेजी में निवास करती है। उसका व्यक्तित्व धीरे-धीरे उभरता है। वह उत्पीड़ित है। सताई गई है। इस उत्पीड़न ने उसे बाहर से कठोर तथा दानवी बना दिया है। वह बाहर से जितनी कठोर है, भीतर से उतनी ही कोमल है; बाहर से जितनी संकीर्ण है, भीतर से उतनी उदार है। अपनी समस्त ममता बिछी के बच्चों के पालन-पोषण पर उँटेल कर निजी संवेदन शीलता का परिचय देती है। वह पुराने समाज तथा जात-पाँत का सजीव चित्र है। इसलिए उसे भारत माता का नाम दिया गया है जिसमें कायरता तथा साहस, सहिष्णुता संकीर्णता तथा उदारता के परस्पर विरोधी भाव पाए जाते हैं। अवसर आने पर वह दुलियों की सहायता करने के लिए सदैव तैयार है, अन्याय

के विरुद्ध आवाज़ उठाने को सदैव उद्यत है। टोना-मोना की तन्त्र विद्या में वह सिद्धहस्त है। उसकी मृत्यु उसके जीवन की तरह महत्वपूर्ण है। उपन्यासकार ने ताई के चरित्रांकन में सूक्ष्म मनोविज्ञान तथा प्रौढ़ कला का परिचय दिया है। इस तरह नन्दो का चरित्र भी उन नारियों का प्रतीक है जिनकी पति से नहीं बनती; जो कुण्ठित होकर माया मोह से विरक्ति पाकर आधुनिक युवक-युवतियों, सुहागिनों से घृणा करती हैं और पर निन्दा का पाठ करने में प्रवीण होती हैं। नन्दो स्वभाव की घुषी, नियम उपवास से कठोर, और बढ़ियों की संगति में अपना परलोक सिद्ध करने वाली है। उसने कवि विरहेश तथा मोहनी के, जिसे बच्ची भी कहते हैं, परस्पर प्रेम का भंडाफोंड कर बच्ची के जीवन को घोर संकट में डाल दिया था। कवि विरहेश का चित्र व्यंग की तुलिका से अंकित किया गया है। मोहिनी तथा कवि के रोमांटिक प्रेम पर छुट्टि कस कर खेल्क ने रोमांटिक प्रेम के प्रति निजी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। इस तरह तारा-वर्या के प्रेम विवाह को भी आधुनिकता के रंग में रँग कर व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। प्रेम का रोमांटिक स्वरूप नागर जी की दृष्टि में प्रेय तथा श्रेय नहीं जान पड़ता। कर्नल का चरित्र दूध का धोया हुआ है। वह जीवन की उन भावनाओं का प्रतीक है जिनका स्वरूप उदात्त है। वह महिपाल सज्जन तथा कन्या का अभिन्न मित्र और शुभचिन्तक है। वह हृदय का उदार है, विचारों में प्रगतिशील है। इस तरह पन्नाह-बोस चरित्रों को एक साथ उठा कर नागर जी ने उन्हें पूरी तरह सँभाला है। जितने चरित्र हैं, आदि से अन्त तक सजीव हैं। बटनाएँ अनगिनत हैं। कहीं-कहीं प्रसंग अनावश्यक तथा विचरण नीरस जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, मानव-समाज तथा मानव इतिहास

का विवेचन, मथुरा यात्रा के विवरण, अपरिचित युवती की हत्या, मध्य बर्ग का उदय तथा उसके विकास की कथा आदि कथानक को अनावश्यक विस्तार देते हैं। उपन्यास की भाषा नितान्त स्वाभाविक तथा कहीं-कहीं आंचलिक है। यह उपन्यास दम धोने वाली गलियों में रहने वाले कुण्ठित, दमित तथा त्रस्त व्यक्तियों के जीवन को चित्रित करता है तथा उन्हें संकुचित जीवन से बाहर ला कर युग को एक नवीन संदेश देता है। मानव रोग-ग्रस्त है, उसे स्वास्थ्य लाभ करना है। इसमें ही मानव की मुक्ति है।

—डा० इन्द्रनाथ मदान [जालन्धर से प्रसारित]

जयवर्धन : लेखक—श्री जैनेन्द्र कुमार।

‘बूँद और समुद्र’ से बिल्कुल भिन्न प्रकार का उपन्यास श्री जैनेन्द्र कुमार का सबसे बड़ा और सबसे ताज़ा उपन्यास ‘जयवर्धन’ है। यह उपन्यास मार्च ११, सन् २००७ ईसवी को पाई गई श्री विलबर होल्डन ह्यूस्टन की डायरी के अंश के रूप में है। श्री ह्यूस्टन एक अमेरिकन पत्रकार थे जाँ दस वर्ष पूर्व, यानी सन् १९१७ में, भारत आए थे और फिर २००५ में भारत होकर लौटे। उनकी अवस्था तेहत्तर को पार कर गई थी। यानी उनका जन्म १९१३ में हुआ। तब से चौंसठ वर्ष की उम्र तक वह भारत के बारे में सुनते-पढ़ते रहे होंगे। “पत्रकारिता के क्षेत्र में दार्शनिकता सुलभ नहीं है। वह वहाँ उपयुक्त भी नहीं है, उनमें इन दोनों का मेल था।” यह सब भविष्यकाल के और वृद्धवयस के व्यक्ति देखकर सहसा मुझे शॉ के ‘बैक टु मैथ्यूसेलाह’, नाटक के चौथे अंक की याद आती है। शॉ का विश्वास था कि दीर्घजीवी होकर मानव ऐसी दशा में पहुँच जाएगा जब काम, क्रोध आदि प्रवृत्तियों से वह ऊपर उठ जाएगा, और निरा विचार-मानव

बन जाएगा। इस उपन्यास के पात्र भी प्रायः विचार के धरातल पर ही विचरण करते हैं। वे तर्क करते हैं, बहस करते हैं, युक्ति प्रयुक्ति, खंडन-मंडन करते हैं, जिसके दौरान में आत्मा-ईश्वर, नीति-अनीति, पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा जीवन-मृत्यु जैसे शाश्वत और चिर-अनुत्तरित यष्ट प्रश्नों से लगाकर स्टेट कैपिटलिज़्म, साम्यवाद, अर्थनीति, लोक कल्याण, बीसवीं-शताब्दी के अन्तिम सप्ताह में हुए पाँच परम-सत्ताओं के सम्मेलन का भी उल्लेख है। शायद इक्कीसवीं से मतलब है यानी मुख्यतः घटना इस उपन्यास में कुछ नहीं। काफ़ी से दार्शनिक, मौलिक प्रश्नों के विषय में प्रश्नोत्तर प्रधान संलाप हैं। यत्र-तत्र इला या एलिज़ाबेथ जैसी दो स्त्रियाँ आ जाती हैं, परन्तु जैनेन्द्र के पुराने उपन्यासों में जैसे नारी पात्रों की प्रधानता थी वे—कटो या सुखदा या कल्याणी या सुनीता—यहाँ गायब हैं। उपन्यासकार का प्रधान उद्देश्य अपने आपको आज की स्थिति से बहुत दूर और तटस्थ भावी काल में अवस्थित करके और एक विदेशी के रूप में दिक्-भाव में भी अपने से बाहर एक ‘आउटसाइडर’ बनाकर लिखने का है। दो पात्र उसके मन को अभिभूत करते हैं—भारत का एक प्रमुख राजनेता, जो विदेशी विचारधाराओं से प्रभावित एक अद्भुत आकर्षक व्यक्तित्व है, जो जनता का प्यारा और फिर भी अन्तर्मुख है। वह परिताप भी कर सकता है, वह आलोचना भी सुक्त और उदार भाव से सह लेता है। वह अहिंसा प्रेमी है, ‘पैग’ से सिप भी ले लेता है, आधुनिक सब साधनों से—कार, फोन, हवाई जहाज़ आदि से उसे प्रेम है; नास्तिक है, उपवास भी करता है। सर्वदलीय सरकार बनाना चाहता है, अन्त में संन्यासी बन जाता है। दूसरी ओर उसके श्वसुर आचार्य हैं जो ‘स्टेट’ जैसी संस्था में विश्वास नहीं करते, ईश्वर

और होनहार को मानते हैं, एक प्रकार के अनेकांतवादी हैं, सकर्मक सरकार और उसकी व्यवस्था पर उन्हें विश्वास नहीं। इन दो प्रधान पात्रों के बीच-बीच में इन्द्रमोहन—जो जैनेन्द्र जी के पुराने आतंकवादी-क्रांतिकारी-तत्कालपरिणामेच्छुक हरिमोहन या 'विवर्त' में नायक या 'व्यतीत' के कप्तान की तरह से एक कठिन-कठोर व्यंग चित्र हैं—और माथ-दम्पति और स्वामी भी आते रहते हैं। इस प्रकार के विचारात्मक उपन्यास का एक प्रयोग पहले जैनेन्द्र जी अनामस्वामी नामक एक अपूर्ण परन्तु धारावाहिक रूप से 'विश्ववाणी' में प्रकाशित उपन्यास में कर चुके हैं।

इस उपन्यास की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि न केवल यह भविष्यद्वादी (फ्यूचरिस्ट) उपन्यास है, परन्तु मनोवगाहन के अपने सूक्ष्म ज्ञान से जैनेन्द्र जी ने इसे एक 'स्ट्रक्चरल' उपन्यास भी बनाया है। इसके रचना-स्थापत्य में 'त्यागपत्र' जैसी अदृष्ट अनिवार्यता नहीं है—परन्तु 'जयवर्धन' का राष्ट्रीयता के क्षेत्र को पार करके अन्तर्राष्ट्रीयता और बिश्वात्मकता की ओर बढ़ने का अन्तिम-विन्दु बहुत मार्मिक बन पड़ा है। 'जयवर्धन' पृष्ठ ४११ पर कहता है—“राज की सीमा है। वह लकीर धरती पर तो कहीं नहीं है, सिर्फ नक्शे पर है। इसलिए राज्य कृत्रिम है। उस कृत्रिमता के लिए मेरे पास कहीं जगह नहीं रह गई है। कृत्रिम मैं कहता हूँ, लेकिन दूसरे उसे आज का सबसे बड़ा यथार्थ और सबसे बड़ा सत्य भी कह सकते हैं।”

जैनेन्द्र जी का आग्रह नहीं है कि 'जयवर्धन' को उपन्यास माना जाए। औपन्यासिकता इस ग्रंथ में कम है। परन्तु आज जो विश्व के सामने 'कोलेप्स आफ कौशियेंस' का सवाल अहम हो उठा है, आज जो अस्तित्ववादी दार्शनिकों के सामने भी अपने से बेगानापन खल रहा है—उस

उद्वेजित, अति-संवेदनशील आत्मा की सूक्ष्म परन्तु देशकालातीत प्रतिक्रियाएँ इस विचारपुस्तक में हैं। 'जयवर्धन' के आमुख में जैनेन्द्र जी कहते हैं : “राजनीति ने दुनिया को संकट में डाल दिया है। उसका कहना है, राज का यह रूप जो नहीं तो दूसरे में पड़ना होगा। जैसे और त्राण न हो। यों तनाव फैलता है और युद्ध अनिवार्य होता जाता है। 'पंचशोल' है और वह काम की बात है। पर शस्त्रास्त्र-निर्माण के वेग के साथ उसका प्रकट अनमेल नहीं दीखता है। फिर वह रोग के निदान में भी नहीं उतरता। जो हो, और बातों के साथ मेरे मन पर वह संकट भी छाया रहा है।” जैनेन्द्र जी ने प्रश्न को बहुत ठीके रूप में पेश किया है—एक समाधान है राजनीति को मानव नीति से बदलने का, व्यक्ति मात्र के हृदय परिवर्तन का, गांधी जी जिसे कहते थे उस 'राज्य के आपसे आप सुरक्षा जाने' (विदरिग अवे ऑफ द स्टेट) का।

परन्तु उपन्यास लेखक से समाधान की अपेक्षा एक अनावश्यक अपेक्षा है। ईलियट ने कहा है कि 'पोइट्री कैन नाट बी ए सबस्टीट्यूट फार फिलोसोफी आर रिलीजन।' हम यहाँ 'काव्य' को प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के व्यापक अर्थ में 'साहित्य' लेकर कहें कि साहित्य के किसी अंग को—उपन्यास को भी दर्शन का पर्यायवाची मानना संभव नहीं है। उन दोनों में राग और विराग का सा अन्तर है। पुस्तक के कई स्थल तर्क-युक्त निबन्ध जैसे हो गए हैं।

फिर भी मानना होगा कि जैनेन्द्र जी ने हिन्दी उपन्यास साहित्य में 'जयवर्धन' द्वारा एक नया आयाम उपस्थित किया है। उनके सभी उपन्यासों की मौलिक समस्या दस्तोवरकी वाली समस्या है। आस्तिक्य और नास्तिक्य का चिरंतन संघर्ष, अहिंसा के ज्यामितिक क्रम्पास से समस्या सुलझती नहीं—इसका

बाधवीकरण मात्र होता है। युद्ध-काल में सियारामशरण जी ने एक काव्य लिखा था— 'बन्धुक्त'। उसमें युद्ध की व्यर्थता एक काव्य-निक पीठिका पर निर्मित थी—जैनेन्द्र ने यही व्यर्थता फिर से सिद्ध की है, परन्तु वह 'यूटोपीयन' ढंग से नहीं, मुख्य पात्र जयवर्धन के अंतर्संघर्ष के माध्यम से जो अन्त में सर्व-संग परित्याग करता है फिर भी जिसके लिए प्रेरण शेष है : अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

—प्रभाकर माचवे [दिल्ली से प्रसारित]



मुग़ल साम्राज्य की जीवन संध्या :
लेखक—श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह ।

अब जब हम अपने स्वतन्त्रता संग्राम के समारंभ की शती मना रहे हैं, इस पुस्तक का प्रकाशन बहुत ही सामयिक तथा प्रासंगिक है । इसमें हम न केवल १८५७ की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति की ध्वनियाँ पाते हैं, बल्कि इस बात के प्रमाण भी कि १८५७ का चिद्रोह वस्तुतः देश को अंग्रेज़ी शासन से मुक्त कराने के उद्देश्य से उठा था । साधनों की कमी, सिपाहियों की लूटमार की प्रवृत्ति, देशव्यापी संगठन का अभाव और बहादुरशाह द्वारा निर्देशित मार्ग से विचलन ने उसे सफलता न प्राप्त होने दी, यह दूसरी बात है, लेकिन वह आग जो इस समय प्रज्वलित हुई बुझी नहीं, दबी रही, बीच-बीच में भड़कती रही, अंत में इसने एक संयमित अहिंसात्मक रूप ग्रहण किया और उसके फलस्वरूप देश स्वतन्त्र हुआ । लेकिन उस समय की यादें भुल गईं नहीं जा सकती और लेखक ने उन्हें इस पुस्तक में कुशलता से और रोचक ढंग से संजोया है ।

इस पुस्तक का सम्बन्ध तीन अंतिम मुग़ल बादशाहों के समय से है, किन्तु पुस्तक का उद्देश्य केवल राजनीतिक इतिवृत्त प्रस्तुत करना नहीं है । यह इतिवृत्त प्रसंगतः आ गया है,

किन्तु लेखक का ध्येय इस अशांतिपूर्ण काल की सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दशा को प्रकाश में लाना रहा है । लेखक ठीक ही इसे उर्दू साहित्य के विकास का, और उस परिमार्जित भाषा का, जिसे 'टकसाली' उर्दू के नाम से पुकारते हैं, जनन काल मानते हैं । वह शाहजहाँ और बहादुरशाह 'ज़फ़र' की साहित्यिक प्रवृत्तियों की, उनके कवियों के आश्रयदाता होने की चर्चा करते हैं । इस समय शेर-सुधन का बाज़ार गर्म था । इंशा, जौक, ग़ालिब इन्हीं दिनों हुए ।

'मुग़ल साम्राज्य की जीवन संध्या' में संगठित इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं हुआ है । इसे हम कुछ बिखरे हुए निबंधों का संग्रह कह सकते हैं, किन्तु इन सभी के विषय ऐसे हैं जो दिल्ली के इतिहास के उस काल को आलोकित करते हैं, जिनमें कि मुग़ल साम्राज्य अपना दम तोड़ रहा था और अंग्रेज़ों की शक्ति उभर रही थी । इनके द्वारा उस काल के जीवन का ताना-बाना हमारे सामने आता है, जीवट के और पस्ती के भी किस्से सामने आते हैं, षडयंत्रों और कूटनीति का पता चलता है, दिल्ली की विपदा के चित्र दीखते हैं, किन्तु इस बात के सुखद प्रसंग भी मिलते हैं कि हिन्दू और मुसलमानों का कैसा आपसी भाई-चारा था और इस्लाम धर्मावलम्बी बादशाहों में धार्मिक संकीर्णता की कितनी कमी थी । कई निबंधों में लेखक ने प्राचीन घरेलू कागज़ों और सरकारी दफ्तरों में सुरक्षित सामग्री का उपयोग किया है । इस दृष्टि से इन निबंधों में शोध के गुण हैं ।

पुस्तक में कई परिशिष्ट हैं जिनमें जानकारी की अनेक नई बातें आ गई हैं । हेनरी डिरोज़ियो, बेगम समरू, कोहनूर की कथा, ठक्के ताऊस आदि परिशिष्ट के कुछ लेखों के शीर्षक हैं ।

लेखक श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह साहित्य रसिक हैं। उनकी शैली में एक प्रवाह है, और वह यथा अवसर कविता की एक-दो पंक्तियाँ उद्धृत करने से नहीं चूकते।

कवि तानसेन और उनका काव्य : लेखक—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी।

कुछ समय हुए, चतुर्वेदी जी ने 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' शीर्षक अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें अमीर खुसरो, गोपाल नायक, हरिदास, बैजू बावरा और तानसेन के परिचय के साथ-साथ इन कवि संगीतज्ञों की रचनाएँ भी संकलित की थीं। इस पुस्तक में चतुर्वेदी जी ने केवल तानसेन को लिया है और उनकी रचनाएँ तथा उनके परिचय को और विस्तृत रूप में दिया है।

लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'तानसेन का नाम संगीत का पर्याय बन चुका है।' उनके विषय में सब कुछ जानने की हमारी पिपासा अतृप्त हो रह जाती है और इसका एक कारण है। हमारे देश में महापुरुषों के नामों के साथ इतनी तेज़ी से दंतकथाएँ जुड़ने लगती हैं कि कुछ ही अन्तर में उनके ऐतिहासिक वृत्त पर वह छा जाती हैं और फिर ठीक-ठीक हाल जान पाना कठिन हो जाता है। यों तानसेन का ज़माना इतना पुराना नहीं। निश्चय ही वह अकबर के दरबारी और समकालीन थे। उनकी चर्चा प्रामाणिक ग्रन्थों में आई है और कुछ प्रयत्न करने पर उनके जीवन की एक रूपरेखा निश्चित हो सकती है। किन्तु स्थिति यह है कि उनके जन्म-काल, जन्म-स्थान, पिता के नाम, परिवार, गुरु आदि के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ हैं और इनमें से अधिकांश का आधार जनश्रुति है। चतुर्वेदी जी ने कुछ खोज-बीन के साथ तानसेन का चित्र प्रस्तुत किया है और इस प्रकार एक ऐसी दिशा में कार्य किया है जिसमें बहुत कुछ और काम

होना है, न केवल तानसेन के विषय में बल्कि अन्य संगीतज्ञ कवियों के विषय में।

चतुर्वेदी जी ने तानसेन का परिचय देने के साथ एक छोटे से अध्याय में 'तानसेन का कवि रूप' प्रस्तुत किया है और फिर उनके काव्य का संग्रह दिया है। तानसेन की तीन रचनाएँ कही जाती हैं 'रागमाला', 'संगीतसार' और 'गणेशस्तोत्र'। इनके अतिरिक्त उनके ध्रुपद के पद हैं। गणेशस्तोत्र उपलब्ध नहीं। शेष रचनाएँ इस पुस्तक में आ गई हैं। 'रागमाला' का प्रकाशन तो १९०७ में काशी के लहरी प्रेस से हो चुका था। 'संगीतसार', रीवा सरस्वती पुस्तकालय की प्राचीन हस्त-लिखित प्रति के आधार पर प्रस्तुत हुआ है। यह इस पुस्तक की विशेषता है। ध्रुपद के पद तो वही हैं जो 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' पुस्तक में चतुर्वेदी जी प्रकाशित कर चुके हैं। हमारे संगीतज्ञ कवियों के सम्बन्ध में बहुत शोधकार्य होना है। बहुत सी जानकारी सामने आने को है और हमें आशा है कि चतुर्वेदी जी इस दिशा में अपना कार्य जारी रखेंगे।

इस पुस्तक में दिए हुए चित्रों के विषय में दो शब्द कहना चाहूँगा। तानसेन के अनेक, अधिकतर अप्रामाणिक, चित्र उपलब्ध हैं। ललित कला पत्रिका के अंक १-२ में, अभी हाल में, इस सम्बन्ध में एक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें यह स्थिर किया गया है कि दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय का समकालीन चित्र ही सर्व प्रामाणिक है। इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर दिया गया इलाहाबाद म्यूजियम का चित्र, तानसेन के किसी प्रामाणिक चित्र को नकल है, किन्तु चतुर्वेदी जी ने जो दूसरा चित्र पुस्तक में दिया है उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

कैरली साहित्य दर्शन : लेखिका—श्रीमती रत्नमयी दीक्षित।

आकाशवाणी प्रसारिका

आज हमें हिन्दी में भारत की सभी भाषाओं के साहित्य के परिचय ग्रन्थों की आवश्यकता है, और इस दिशा में यह मूल्यवान प्रयास है।

इस पुस्तक में मलयालम भाषा तथा साहित्य का संक्षेप में परिचय दिया गया है। लेखिका का कहना है : “एक सुन्दर एवं विशाल प्रासाद को बाहर खड़े होकर गवाड़ों से देखने पर जो दृश्य दिखाई दे सकता है, वैसा ही दृश्य इस छोटी सी पुस्तक में कैरली साहित्य का उपलब्ध है। कहने योग्य सब नहीं कहा गया, उसका एक अंश भी शायद न कहा जा सका हो।” निश्चय ही कैरली साहित्य समृद्ध है, और स्वयं कैरली होते हुए लेखिका को इस

साहित्य पर गर्व होना चाहिए। सब कुछ कब कहा जा सका है? फिर भी लेखिका ने एक झोंकी दे दी है—केरल देश और कैरली भाषा की, उसके प्राचीन लोककाव्य की, उस पर पड़े द्राविड और संस्कृत प्रभावों की, एङ्ग्लो-इण्डियन तथा अन्य पुराने कवियों की, कथाकाल के साहित्य आदिकथा की, हास्यरस के उपज्ञाता कुञ्चन नंनियार की, वहाँ के महाकाव्यों की, आधुनिक कवि परम्परा की और आधुनिक गद्य के विकास तथा नवीन काल की प्रवृत्तियों की।” और यह क्या कम है? लेखिका की शैली सरल और सुस्पष्ट है और मलयालम साहित्य की और भी निकट जानकारी के लिए मन में पिपासा जागृत करती है। —रामचन्द्र टंडन [दिल्ली से प्रसारित]

नौकरी की तलाश में प्रेजुएट—[पृष्ठ ६४ का शेषांश]

सवाल जब दिया, “कहिये आजकल क्या कर रहे हैं?” क्या बेहूदा सवाल है। क्या जवाब दें? किसी तरह टालना पड़ता है। “जॉ ज्वाइन कर लिया है, बकालत का इरादा है।” बी. ए. के बाद जॉ तो सभी ज्वाइन कर सकते हैं और जॉ करने के बाद भी नौकरी की तलाश जारी रहती ही है।

मैं एक बेकार प्रेजुएट हूँ नौकरी की तलाश में हूँ, मेरी तलाशी ली जा रही है, मेरे पास

सिफारिश नहीं, रिश्ते नहीं, सिर्फ गांधी ब्लास डिग्री है। इस डिग्री ने मुझे इतनी ठोकरें खिलाई कि नाजुक दिल टूट गया और मुझे शायरी की दुनिया में दाखिल होने के सारे साजो-सामान मिल गये। आजकल मैं बेकार नहीं हूँ, शायरी करता हूँ, कविताएँ लिखता हूँ, और अब फिल्मी कलाकार की हैसियत से बम्बई जाने की तैयारी कर रहा हूँ। —नागपुर से प्रसारित

एक स्पष्टीकरण

विदित हुआ है कि ‘आकाशवाणी प्रसारिका’ के जनवरी-माच, १९५७ अंक में प्रकाशित ‘बहारों के देवता’ कविता जगदीश अतुप्त की है, जगदीश गुप्त की नहीं। जगदीश अतुप्त तरुण कवि हैं, पता—८२ बटलर हाँस्टल, लखनऊ विश्वविद्यालय।

‘आकाशवाणी प्रसारिका’ में प्रकाशित सामग्री चाहे जहाँ उद्धृत की जा सकती है, परन्तु ‘आकाशवाणी प्रसारिका’ का हवाला देना आवश्यक है।

‘आकाशवाणी प्रसारिका’ के वार्षिक चन्दे और विज्ञापन-दर के बारे में निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें :—

विज्ञानेस मैनेजर, पब्लिकेशन्स डिवीजन,

सूचना और प्रसार मंत्रालय, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८



इस अंक के

रचनाकार

नामवर सिंह

प्रसिद्ध आलोचक, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा० उदित नारायण सिंह

पैरिस विश्वविद्यालय से 'गणित' में डी० एस० सी० ; रीडर गणित विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय

रवीन्द्र 'भ्रमर'

उदयमान कवि ; रिसर्च स्कालर ; ३६, तारतल्ला, आदित्य कुटी, जौनपुर (उ० प्र०)

जगदीशचन्द्र माथुर

प्रसिद्ध नाटककार ; आ० सी० एस० ; डायरेक्टर जनरल, आल इंडिया रेडियो

पन्नालाल पटेल

इन्दुशेखर

गुजराती के विख्यात कथाकार तथा उपन्यासकार ; अहमदाबाद हिन्दी और संस्कृत के लेखक, भारत सरकार की सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने वाली संस्था की ओर से तेहरान विश्व-विद्यालय में संस्कृत अध्यापन कार्य के लिए भेजे गए हैं

डा० आर्येन्द्र शर्मा

शम्भूनाथ सिंह

विद्वान लेखक एवं आलोचक ; सम्पादक 'कल्पना', हैदराबाद आलोचक एवं कवि ; काशी विद्यापीठ, वाराणसी

बालकृष्ण राव

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

कवि, आलोचक, विचारक ; १८२ बी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद कहानीकार तथा उपन्यासकार ; सरयू-निवास, नादान महल रोड, लखनऊ

कन्हैयालाल कपूर

शुक्रदेवप्रसाद तिवारी

हास्य लेखक ; प्राध्यापक डी० एम० कालेज, मोगा आलोचक ; अध्यक्ष हिन्दी विभाग, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर (मध्य प्रदेश)

डा० वी० एस० नवेरो

दर्शन, साहित्य और फोटोग्राफी में अभिरुचि ; प्राध्यापक दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

चिरंजीव

कवि तथा नाटककार ; आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र में नाटक विभाग में असिस्टेंट प्रोड्यूसर

आकाशवाणी प्रसारिका

डा० मथुरालाल शर्मा

अलगूराय शास्त्री
देवेन्द्र सत्यार्थी

आर० के० श्रीवास्तव
माया गुप्त
कृष्णदत्त वाजपेयी

एल० एस० शुक्ल

डा० कन्हैयालाल सहल
अजित कुमार
हरिश्चन्द्र भरतिया
लक्ष्मीकान्त भा

डा० इन्द्रनाथ मदान

प्रभाकर माचवे

रामचन्द्र टंडन

इतिहास के क्यातिप्राप्त विद्वान, साहित्यकार तथा विचारक ;
इतिहास विभाग, राजपूताना विश्वविद्यालय
संसद सदस्य, समाज सुधारक ; १८ कैनिंग ब्रेन, नई दिल्ली
साहित्य रसिक तथा लेखक, इन्हीं दिनों इनका 'ब्रह्मपुत्र' नामक
उपन्यास निकला है ; 'कल्पना', २-सी।४६ रोहतक रोड, करोल
बाग, दिल्ली

प्राध्यापक हिन्दी विभाग, सीताबाई आर्ट्स कॉलेज, अकोला
सुविदित लेखिका ; १८६-१६१ खैबरपास मैस, दिल्ली
गम्भीर लेखक ; सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता ; क्यूरेटर, राजकीय
संग्रहालय, मथुरा

मनोवैज्ञानिक विषयों में अभिरुचि; इन्दौर के एक प्रमुख एडवोकेट;
न्यू पब्लिसिया, इन्दौर

विद्वान आलोचक; अध्यक्ष हिन्दी विभाग, बिड़ला कॉलेज, पिलानी
कवि; हिन्दी विभाग, विदेश मन्त्रालय
गुजराती कालेज, इन्दौर में प्राध्यापक थे अब राजस्थान में हैं
लेखक तथा विचारक; आई० सी० एस०; विशेष सचिव, वाणिज्य
एवं उद्योग मन्त्रालय

मननशील आलोचक; हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,
जालन्धर

लेखक तथा आलोचक; असिस्टेंट सेक्रेटरी, साहित्य अकादेमी;
२२ यार्क होटल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली

प्रसिद्ध लेखक; डिप्टी चीफ़ प्रोड्यूसर, हैडक्वार्टर्स, आज
हयिडया रेडियो, दिल्ली

आगामी अंक में.....

भारतीय रंगमंच
कवि सम्मेलनों के कङ्क-मीठे अनुभव
बौद्ध-धर्म के ह्रास के कारण
ईशा की शायरी
जब पहली बार भाषण देना पड़ता है
शोभा-भूमि केरल
हिन्दी कथा साहित्य में हास्य और व्यंग्य
अन्तःप्रेरणा और पलायन
व्यथा के काँटे

मामा वरेरकर
बच्चन
भगवतशरण उपाध्याय
अर्श मल्लिसिन्नी
ब्रजकिशोर 'नारायण'
यशपाल जैन
शिवदानसिंह चौहान
डा० धर्मवीर भारती
गोपालकृष्ण कौल

हायरैक्टर, पब्लिकेशन्स डिवीजन, द्वारा सम्पादित और प्रकाशित; तथा प्रोडक्शन
ऑफिसर, यूनाइटेड प्रेस, भारत सरकार, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली द्वारा मुद्रित ।

अपने लिये और राष्ट्रीय उन्नति के लिये बचाइये

पंजाब नैशनल बैंक आप लोगों की बचत को देश के साधनों का सदुपयोग करने में लगाकर देश की सेवा कर रहा है ।

कार्यगत कोष १५२ करोड़ रुपये से अधिक

७

दि पंजाब नैशनल बैंक लिमिटेड

स्थापित : सन् १८६४ ई०

प्रधान कार्यालय—दिल्ली

चेयरमैन :

श्री एम० पी० जैन

जनरल मैनेजर :

श्री ए० एम० वोकर

